UGC Approved Journal No. 48416
Interdisciplinary Journal of Contemporary Research, Vol. 7, No. 6, June, 2020

Impact Factor : 2.314
ISSN : 2393-8358

मन्नू भण्डारी की कहानियों में अभिव्यक्त समय और समाज

डॉ. अभिषेक कुमार पटेल
सहायक प्राध्यापक, शासकीय शहीद कौशल यादव महाविद्यालय, गुण्डरदेही , छत्तीसगढ़

मन्नू भंडारी का जन्म 3 अप्रैल 1931 में मध्यप्रदेश के भानपुरा में हुआ था। उनके पिता श्री सुख सम्पत राय भंडारी 'हिंदी पारिभाषिक कोष' के रचयिता थे। लेखन संस्कार उन्हें पैतृकदाय के रूप में प्राप्त हुआ। उनके व्यक्तित्व निर्माण में उनके घर के वातावरण का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। घर के वातावरण निर्माण में उनके घर के वातावरण का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। घर के वातावरण और पिताजी के योगदान से उन्होंने सामाजिक कार्यों में बड़े उत्साह से भाग लिया। अपने साहसी व्यक्तित्व के कारण ही उन्होंने नारी के परंपरागत कोमल एवं अबला रूप को तोड़कर एक सशक्त नारी को अपने कथा साहित्य में स्थान दिया।

मन्नू भंडारी ने सन् 1950 के आस-पास लेखन कार्य आरंभ किया। 1954 में उनकी पहली कहानी 'नया समाज' पत्रिका में प्रकाशित हुई, लेकिन इससे उन्हें अपेक्षित पहचान नहीं मिली। जिस कहानी ने लोगों का ध्यान उनके लेखन के प्रति आकर्षित किया तथा उन्हें पहचान दी, वह कहानी थी—'मैं हार गई', जो 1958 में 'कहानी' पत्रिका में प्रकाशित हुई। 1959 में मन्नू जी का विवाह साहित्यकार राजेन्द्र यादव से हुआ।

मन्नू भंडारी अपनी रचनाओं में बिना किसी वैचारिक पूर्वाग्रह के व्यक्ति एवं समाज की परतें खोलते चलती हैं। उन्होंने लिखा है, "यह सच है कि मैं किसी पंथ से जुड़ी थी, न तब वाद में... मेरा जुड़ाव अगर रहा है तो अपने देश से... चारों ओर फैली-बिखरी ज़िंदगी से जिसे मैंने नंगी आँखों से ही देखा है, बिना किसी वाद का चश्मा लगाए और मेरी रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं।"1

मन्नू जी ने स्वयं जिन-जिन भूमिकाओं में जीवन जिया अपनी कहानियों में उसका लेखा-जोखा प्रस्तुत किया। किंतु उनके सृजन में सामाजिक जीवन में बिखरी नारी की भूमिकाओं के प्रति एक रचनात्मक दायित्व बोध भी बराबर बना रहता है। अपने नारी पात्रों को वे जिस सहजता एवं आत्मीयता से निभाती हैं वह बेजोड़ है। विविध रूपों में भारतीय नारी को समझने की कोशिश कहीं-न-कहीं खुद को ही संपूर्णता में समझने एवं निर्मित करने की कोशिश प्रतीत होती है। साहित्य की युगों पुरानी कथा-रुढ़ियों के मलबे के नीचे से नारी के मौलिक, व्यक्तित्व का अन्वेषण और उसके चरित्र के यथार्थ निरुपण की कोशिश एक रचनाकार के रूप में मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण बनाती है। मौलिक इसलिए क्योंकि कथा साहित्य में अक्सर ही नारी का चित्रण पुरुष की आकांक्षाओं (दमित) से प्रेरित होकर किया गया है जबकि मन्नू जी नारी की निगाह से नारी की मानवी-मूर्ति निर्मित करती है और महत्त्वपूर्ण इसलिए क्योंकि यह कोशिश वे स्वयं घर, समाज, व्यवस्था के उन तनावों एवं दबावों के बीच रह कर करती है, जिनमें एक आम भारतीय नारी जीती है। वे घर से समाज और समाज से घर को देखती हैं। अपने में दूर जाकर अपने और अपनों के दुःख-दर्द का आकलन एक मुश्किल लेखकीय धर्म है। मन्नू जी इसे निभाती हैं। यही वजह है कि उनके कथा-साहित्य में घर की हदबंदी से लेकर समाज व्यवस्था के कोने-कोने तक फैले उस शोषणजाल का बेहद विवरण मिलता है, जिसके बीच नारी का सुख सूखता जाता है, उसका व्यक्तित्व छीजता जाता है। भारतीय समाज के संदर्भ में नारी 'नारीत्व' को नकारने वाली शोषक व्यवस्था की बिल्कुल स्पष्ट समझ मन्नू जी में दिखती हैं, जो निस्संदेह नारी-मुक्ति-आंदोलन को उनकी मूल्यवान रचनात्मक देन है।

"नारी मुक्ति आंदोलन को भारतीय संदर्भ में एक बिल्कुल दूसरे ढंग से देखना होगा। पश्चिम में रूढ़ियाँ, अंधविश्वास, झूठी मान्यताएँ नारी के विकास को उस तरह तोड़ती नहीं जैसा हमारे यहाँ आज भी है। उनकी समस्या मानसिक रूप से पुरुष-निर्भरता से मुक्ति की समस्या है जबकि हमारे यहाँ सामाजिक-संस्कारों और रूढ़ियों से उबरने की या फिर दहेज, जाति, आर्थिक परतंत्रता, शीलसुरक्षा, सतीत्व या 'भारतीय नारी' का बहुप्रचारित शिकंजा—और भी ऐसी अनेक रुकावटें हैं जो हमें खुला आसमान देखने ही नहीं देतीं।" (साक्षात्कार अजित कुमार, त्रिशंकु संग्रह) मन्नू जी के कथाकार व्यक्तित्व का समुचित मूल्यांकन इन रुकावटों की बेबाक समझ के क्रम में ही संभव है।

मन्नू भंडारी के अब तक पाँच कहानी-संग्रह प्रकाशित हैं। पहला संग्रह 'मैं हार गई' 1957 में प्रकाशित हुआ था। इसमें कुल बारह कहानियाँ हैं। 'ईसा के घर इंसान', 'गीत का चुम्बन', 'जीती बाजी की हार', 'एक कमजोर लड़की की कहानी',

Scanned with CamScanner

'सयानी बुआ', 'अभिनेता', 'श्मशान', 'दीवार', 'वक्त्र और वरसात', 'पंडित गजाधर शास्त्री', 'कील और कसक' और 'दो कलाकार'। इस संग्रह में अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं जो नारी-मनोभावों को अत्यंत सजीव ढंग से व्यक्त करती हैं। चूँकि मन्नू भंडारी की यह पहली कृति थी। इसके कारण ही इसमें वैचारिक अन्विति और वैचारिक परिपक्वता का अभाव है, इसके बावजूद इसमें संकलित सभी कहानियाँ अपनी विशिष्ट छाप छोड़ती हैं।

'दो कलाकार' एक गढ़ी हुई कहानी होने पर भी रचना एवं कर्म की एकता पर बल देती है। जीवन में कर्म के प्रति चित्रा की तरह उदासीन रहने वाले लोग ही अंततः रचना में कलावाद का सहारा लेते हैं। चित्रा के चित्र 'कन्फ्यूजन' में अमूर्तन और प्रतीक-बहुलता को लेकर अरुणा की टिप्पणी प्रकारांतर से नई कहानी में घुसपैठ करती इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध हीणक टिप्पणी है। वास्तव में सच्चा कलाकार वही है जो जीवन के मर्म को समझता है।

'मैं हार गई' में मूल्यों के ह्रास के संकेत स्पष्ट है। मन्नू भंडारी की ये कहानियाँ लेखिका की सामाजिक चिंता का साक्ष्य बन सकी हैं जो उनके परवर्ती लेखन में वृहत्तर संदर्भों से जुड़ने की आकांक्षा के रूप में प्रतिफलित होती है। 'मैं हार गई' की कथा लेखिका निर्धन और संपन्न दोनों वर्गों से ही अपने नायक के निर्माण में असफल रहती है लेकिन अपने वर्ग के संपन्न नायक की अपेक्षा उसे विपन्न और साधनहीन नायक में ही संभावनाएँ दिखाई देती है। भाई-भतीजावाद के कारण निम्न वर्ग के नायक को नौकरी भी नहीं मिल पाती। यह नायक अपनी पूरी संभावनाओं के साथ कहानी में भले ही न उभर सका, लेकिन शीर्षक से संकेतित कथा-लेखिका की पराजय की स्वीकृति यह स्पष्ट कर देती है कि वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में उनके नियामकों से कोई आशा नहीं की जा सकती। अतः इसमें वर्तमान राजनीतिज्ञों पर कटाक्ष किया गया है।

'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' एक नारी के उन अंतर्द्वंद्वों और संस्कारों की जकड़नों को उभारती है जो पति के प्रति समर्पित होकर भी प्रेमी को भुला नहीं पाती। इस कहानी की नायिका 'रूप' वैचारिक धरातल पर परिस्थितियों से विद्रोह करती है, लेकिन व्यवहार में उसका यह विद्रोह कमज़ोर पड़ जाता है। 'रूप' का विवाह एक वकील से होता है, लेकिन वह अपने प्रेमी ललित को भुला नहीं पाती। ललित और रूप दोनों भाग जाने की योजना बनाते हैं। लेकिन पति के द्वारा मित्र की पत्नी के भाग जाने की खबर सुनकर वह अपना निर्णय बदल देती है। लोग अच्छा कहें, इस भावना से प्रेरित रूप अपनी इच्छाओं का होम करने की ओर प्रवृत्त होती है। सामाजिक तिरस्कार न सह पाना उसकी कमज़ोरी है। लादे हुए निर्णयों के कारण मानसिक कमज़ोरी और स्वनिर्णय की अक्षमता का प्रतीक है 'रूप', जिसने अनेक बार निर्णय लेने का प्रयास तो किया, पर हर बार हारती गई।

'पण्डित गंजाधर शास्त्री' एक चरित्र प्रधान व्यंग्यात्मक कहानी है। शास्त्री जी स्वयं को महान साहित्यकार समझने लगते हैं। इसी आत्म प्रशंसा के भाव से वह समाज में हास्य का पात्र बन जाते हैं। हद तो तब हो जाती है जब शास्त्री जी विक्टर ह्यूगो के 'ला मिजरेब' का चोरी वाला हिस्सा ज्यों का त्यों लिखकर अपनी कहानी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसके माध्यम से मन्नू भंडारी पाश्चात्य लेखकों की नकल कर कहानियाँ आदि लिखने वाले साहित्यकारों पर गहरा कटाक्ष करती हैं। आत्म प्रशंसा में लिप्त, आचार और विचारों में भिन्न गजाधर शास्त्री स्वयं ही लेखिका की कहानी के मुख्य पात्र बन बैठे।

'तीन निगाहों की एक तस्वीर' मन्नू भंडारी का यह दूसरा कहानी-संग्रह है। यह संग्रह 1959 में श्रमजीवी प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। इसमें आठ कहानियाँ संगलित हैं—'तीन निगाहों की एक तस्वीर', 'अकेली', 'अनथाही गहराइयाँ', 'खोटे सिक्के', 'घुटन', 'हार', 'मजबूरी' और 'चश्मे'।

'तीन निगाहों की एक तस्वीर' कहानी में तस्वीर दर्शना की है जिसे तीन निगाहें अपने-अपने ढंग से देखती हैं समझती हैं। ये तीन निगाहें हैं, नैना, हरीश और स्वयं दर्शना की। दर्शन ने विवाह के तुरंत बाद टी.वी. से बीमार पति की सेवा करना शुरू किया, इस क्रम में दर्शना का ममत्व ही नहीं नारीत्व भी प्यासा रह गया। परिस्थितिवश वह हरीश की ओर आकर्षित हुई तो पति ने उसे मारा और घर से निकाल दिया। सहज मानवीय संबंधों की तलाश में उपेक्षा और अवमानना का जीवन भोगते हुए वह आँख मूँद लेती है।

अन्य कहानी लेखिकाओं की तुलना में इनका कथा-फलक विस्तृत है। वस्तुतः इन्होंने भावकुता से हटकर बदले हुए जीवन-संदर्भ में खुले दिमाग से नारी जीवन की वास्तविकता को देखा-परखा और बड़ी सादगी के साथ व्यक्त किया है। 'अकेली' कहानी की सोमा बुआ अपने तात्कालिक परिवेश में जीने की अदम्य लालसा के साथ जी रही हैं। सोमा बुआ का मानवीय हृदय पूरे मुहल्ले को ही अपना परिवार मान लेता है परंतु कोई उसे अपना नहीं मानता। वह सभी के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझती है। परंतु आज की पूँजीवादी बाज़ार-व्यवस्था ने सामाजिक एवं पारिवारिक मूल्यों को तार-तार कर दिया है। आज

Scanned with CamScanner

संबंधों की कीमत आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक हैसियत के आधार पर आँकी जाती है सोमा बुआ दिन भर न्यौते की प्रतीक्षा में बैठी रहीं। रात हुई तो कहती हैं, "क्या सात बज गए? फिर जैसे अपने से ही बोलते हुए पूछा, 'पर सात कैसे बज सकते हैं, मुहूरत तो पाँच बजे का था।...' और फिर बड़े ही तुले हुए दिल से अंगीठी जलाने लगीं।"3 इस कहानी में वृद्धाओं के अकेलेपन को गहरी संवेदनशीलता के साथ रेखांकित किया गया है।

'खोटे सिक्के' कहानी मज़दूरों की शोचनीय हालात की ओर संकेत करती है। कंपनी के लिए जान खपा देने वाले मज़दूरों को कुछ हो जाने पर उन्हें दूध में पड़ी मक्खी की तरह निकाल कर फेंक दिया जाता है। बुद्धिजीवी वर्ग उनकी दुर्दशा पर सहानुभूति का आँसू तो बहाता है परंतु स्थिति में परिवर्तन के लिए कोई कदम नहीं बढ़ाता। 'खोटे सिक्के' की लक-दक फैशनेबुल टिकस्म की छात्राओं के लिए मज़दूरों की दुर्दशा देखना महज तमाशे देखने के बराबर है। मन्नू भंडारी की इस यथार्थवादी दृष्टि को मधुरेश "प्रेमचंद और यशपाल से प्राप्त रचना दृष्टि मानते हैं।"4

'मजबूरी' कहानी दो पीढ़ियों के वैचारिक संघर्ष की कहानी है। संघर्ष भावना और विचार का है। लेखिका ने समय के अंतराल से उत्पन्न स्थितियों और दृष्टिकोण को सामने रखा है। बूढ़ी अम्मा गाँव में रहती हैं बेटा रामेश्वर बहू एवं पोते के साथ बंबई में रहता है। दूसरा बच्चा जन्म लेने के कारण बहू को पहले बच्चे को बूढ़ी अम्मा के पास छोड़ कर जाना पड़ता है। अम्मा बेटू से बहुत प्यार करती है परंतु बेटू के कैरियर को लेकर चिंतित बहू चार साल बाद उसे बंबई वापस ले जाती है, तो अम्मा का हृदय टूक-टूक कर रोने लगता है। फिर भी सबके सामने जताती हैं मानो वे इससे खुश है। यहाँ रोते हुए भी हँसने की मजबूरी है। इस कहानी के संदर्भ में मन्नू भंडारी ने कहा था—"मन-प्राण से दूसरों के साथ जुड़ना वे फिर घर के हों या बाहर के इनकी मजबूरी है और जिससे जुड़े, उससे उपेक्षा पाना इनकी नियति। कहानी लिखते समय तो इन पात्रों की इस त्रास भरी नियति ने ही मुझे झकझोरा था, पर आज तो जैसे हर जगह, हर परिवार में किसी न किसी स्तर पर अकेलेपन की यह अनुगूँज सुनाई देती है।"5 यहाँ पीढ़ियों के अंतराल के कारण फालतू हो आए अकेलेपन का बोझ ढोते माँ-बाप का सूक्ष्म मनोविश्लेषण चित्रण हुआ है।

'यही सच है' मन्नू जी का तीसरा कहानी-संग्रह है, जो 1966 ई. में प्रकाशित हुआ था। इसमें संकलित कहानियों में 'नशा', 'तीसरा आदमी', 'नकली हीरे', 'सजा', 'रानी माँ का चबूतरा', 'इनकमटैक्स और नींद' और 'यही सच है' नामक आठ कहानियाँ हैं। यहाँ लेखिका का शैल्पिक सौंदर्य तो चरमोत्कर्ष पर है ही, साथ-साथ उन्होंने वृहत्तर आयामों और निर्वैयक्तिक दृष्टिबोध से समर्थ कलाकार होने का ही साक्ष्य दिया है।

'सजा' कहानी में एक ओर न्याय के विलंब पर मार्मिक व्यंग्य है, तो दूसरी ओर आर्थिक अभाव के कारण परिवार में आने वाले बिखराव का मर्मस्पर्शी चित्रण है यह ऐसे पिता की कहानी है जिस पर रुपए गबन का झूठा इल्जाम लग जाने की वजह से जेल जाना पड़ता है। नौकरी से हटने के बाद मुकदमा चलने पर रिहाई तो मिलती है, परंतु जब तक पूरा परिवार ही सज़ा भुगत चुका होता है। न्याय की इस विचित्र सी प्रक्रिया में फँस कर उन्हें जो कुछ भोगना पड़ा था उसका आघात वे सह नहीं पा रहे थे। इसलिए उन्हें रिहा होने की कोई प्रसन्नता नहीं थी। "पर पप्पा फिर भी वैसे ही रहे, मानो उन्हें विश्वास ही नहीं हो पा रहा हो कि उन्हें सज़ा नहीं हुई है।"6

दूसरों से जुड़ी घटनाओं को भी मन्नू भंडारी अपने भीतर जीती है, और इतनी शिद्दत से जीती हैं कि वे घटनाएँ उनका अपना यथार्थ बन जाती है। मन्नू जी के लेखन में जो ताजगी और धार मिलती है, उसका शायद यही रहस्य है। 'यही सच है' की दीपा की कहानी ऐसा लगता है स्वयं लेखिका का भोगा हुआ यथार्थ है। इस कहानी में इन्होंने नारी मनोविज्ञान और उसके आंतरिक संघर्ष को सफलता के साथ प्रस्तुत किया है। इस कहानी में लेखिका ने नारी-मन में पुरुष के प्रति उत्पन्न भावों को डायरी शैली में व्यक्त किया है। प्रेम त्रिकोण पर आधारित यह कहानी यथार्थ के इतना करीब है कि बसु चटर्जी ने 'रजनीगंधा' नाम से फिल्म तक बना डाला।

दीपा की पढ़ाई पटना में हुई जहाँ पर वह सहपाठी निशीथ से प्रेम करने लगती है, लेकिन तभी दीपा के पिता की मृत्यु के बाद उसकी निशीथ से अनबन हो जाती है और वह कानपुर शोधकार्य के लिए आ जाती है। यहाँ उसके जीवन में संजय प्रवेश करता है। दीपा दोनों में किसको चाहती है वह स्वयं नहीं जानती क्योंकि निशीथ मन को शांति देता है तो संजय शरीर को। वर्तमान में जो उसे सुख देता है, वही क्षण दीपा की दृष्टि में सत्य है। ऐसा लगता है मन्नू भंडारी क्षण की अनुभूतियों को सच मानती हैं न कि चिरंतर प्रेम की रोमांटिक अनुभूतियों को। मन्नू भंडारी के पात्रों को कमज़ोर पात्र माना जाता है। यह कहानी भी एक कमज़ोर लड़की की कहानी माना जा सकता है और हमारे समाज में ऐसी कमज़ोर लड़कियों की कोई कमी नहीं है। इसी धरातल पर आकर मन्नू भंडारी की कहानियाँ विशुद्ध यथार्थवादी कहानी बन जाती है। दीपा परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष नहीं

Scanned with CamScanner

Impact Factor : 2.314
ISSN : 2393-8358

कर पाती है। नई परिस्थितियाँ उसे प्रभावित कर अपने अनुसार मोड़ लेती हैं। उसका प्यार परंपरावादी रोमांटिक प्यार के समान न तो आदर्शवादी ही है, और न विरहवादी। उसका सरल और भोला भावुक मन वर्तमान को ही सत्य समझ अतीत से अपना पीछा छुड़ा लेने में किसी भी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करता। संभवत: हिंदी साहित्य में मन्नू भंडारी ने ही पहली बार अपनी इस कहानी के माध्यम से प्रेम की परंपरा से चली आती आदर्शवादी रोमांटिक इमेज को तोड़कर प्रेम के नितांत यथार्थ और व्यावहारिक रूप का अंकन करने का साहस दिखाया था। डॉ. रघुवीर सिन्हा का मानना है कि "इस अर्थ में दीपा अपनी समकालीन अन्य कहानी-नायिकाओं से भी भिन्न है। परिंदे की लतिका से भी वह अलग है। विगत से चिपके रहने की लतिका वाली रोमांटिक जिद उसमें नहीं है।"8

इस प्रकार यह कहानी बीसवीं सदी की प्रेमिका के एक नए बदलते रूप-रंग की तस्वीर प्रस्तुत करती है। प्रेमिका की भूमिका ही नहीं बदलती है, उसे अर्थपूर्ण बनाने वाले संबंधित मूल्य भी क्रमश: बदलते चले गए हैं। भावुक रोमांटिक, आदर्शवादी, अमूर्त प्रेम मूल्य की जगह यथार्थवादी भौतिक-आत्मीय प्रेम ने ली है, जिसमें गहराई भी है और सम्प्रेषण भी। पहले के भावात्मक प्रेम की तरह वह मौन नहीं है। दीपा का 'यही सच है' का प्यार इसी परिवर्तित प्रेम मूल्य का अवश्यम्भावी बोध करता है।

'एक प्लेट सैलाब' मन्नू भंडारी का चौथा कहानी-संग्रह है, जो 1968 में प्रकाशित हुआ। यहाँ लगभग समस्त कहानियाँ नारी जीवन की समस्याओं से संबद्ध है। कहीं पति की सामाजिक प्रतिष्ठा हेतु स्वयं को तिल-तिल गलानी (नई नौकरी), कहीं रहस्यों को बंद दराजों में छिपाकर जीती (बंद दराजों के साथ), कहीं प्रेम में विफल, किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अग्रसर होती (बाँहों का घेरा), कहीं जीवन कमरों में समेटती और बिखेरती (कमरे, कमरा और कमरे), कहीं पति और प्रेमी दोनों के साथ ईमानदारी से समर्पित होती नारी (ऊँचाई) इन कहानियों का केन्द्र-बिंदु है। यह कहानी-संग्रह लेखिका के लेखन के उत्तरोत्तर विकास का द्योतक है। इस संग्रह में कुल नौ कहानियाँ संग्रहित हैं—'नई नौकरी', 'बंद दराजों के साथ', 'एक प्लेट सैलाब', 'छत बनाने वाले', 'एक बार और', 'संख्या के पार', 'बाँहों का घेरा', 'कमरे कमरा और कमरे' तथा 'ऊँचाई'।

शिक्षित, आर्थिक रूप से स्वतंत्र फिर भी परिस्थिति के आगे समर्पण करने का मजबूर आज की आधुनिक स्त्री की स्थिति को उजागर करती हैं दो कहानियाँ 'नई नौकरी' और 'बंद दराजों के साथ'। 'नई नौकरी' की रमा का व्यक्तित्व पुरुष प्रधान संस्कृति का शिकार है। पत्नी को पैसा, घर, बच्चे देना ही उस को सुख में रखना है, यह मान्यता आज भी बरकरार है। कुंदन की नई नौकरी ने उसके अस्तित्व और व्यक्तित्व को उसकी इच्छा-आकांक्षा, बौद्धिक विकास सबको निगल लिया। एक अजीब-सी मानसिक और बौद्धिक गुलामी उसके पल्ले पड़ी। घुटन की शुरुआत हुई। नारी का यही तनाव और घुटन इस कहानी में चित्रित हुआ है। पुरुष अपनी आकांक्षा पूर्ति में पत्नी का साथ चाहता है पर पत्नी की इच्छाओं के अलग अस्तित्व की कल्पना भी वह नहीं करता। शिक्षित पत्नी उसके जीवन में एक शो-पीस है।

'बंद दराजों के साथ' कहानी आज के तनाव को पूरी गहराई से आंकती है। "मनुष्य न तो छूटी हुई जिंदगी को छोड़ पाता है और न चुनी जिंदगी को अपना सकता है। दोनों ओर खींचा जाकर वह क्षत-विक्षत हो जाता है।"9 मंजरी की मनोदशा इस कहानी में इसी प्रकार से चित्रित हुई है। विपिन के पर स्त्री संबंध के कारण मंजरी अपने बेटे असित के साथ अलग हो जाती है। फिर उसके जीवन में दिलीप आता है परंतु असित के स्कूल फीस को लेकर दिलीप और मंजरी के बीच पुन: अदृश्य दीवार खड़ी हो जाती है। मंजरी का जीवन नारीत्व और ममत्व के द्वंद्व में बँट जाता है। मन्नू भंडारी के शब्दों में कहें तो "पुरुष एक तलाकशुदा स्त्री को स्वीकार करे तो अहसान और बच्चे के साथ स्वीकार करे तो इतना बड़ा अहसान कि जिसके नीचे साँस ही घुटकर रह जाए। पति से मुक्त होने का साहस जुटा सकने वाली मंजरी इस मानसिकता से मुक्त नहीं हो सकी और फिर वही अकेली अधूरी जिंदगी जीने की विवशता। यानी की स्त्री साथ रहे तो अपने को स्थगित करके और अलग हो तो टूटी बिखरी जिंदगी जीने को अभिशप्त।"10 'आप का बंटी' उपन्यास इस कहानी का विस्तार प्रतीत होता है।

मन्नू भंडारी की कहानियाँ बौद्धिक विलास नहीं है। वे तो उनके जीवनानुभवों की दास्तान है। राजेन्द्र यादव और मन्नू भंडारी का दाम्पत्य-जीवन तबाह हो रहा था। इसकी अनुगूँज इनकी कहानियों में भी सुनाई देता है। बतौर मन्नू भंडारी "इस सारे प्रसंग पर अपने को मीता की जगह रखकर मैंने 'एक बार और' तथा 'स्त्री सुबोधिनी' नाम से दो कहानियाँ भी लिखीं थी।"11

'त्रिशंकु' मन्नू भंडारी का पाँचवाँ कहानी-संग्रह है जो अपनी संरचना व संवेदना में अधिक प्रौढ़ और विषय-वैविध्य संपन्न कहानी-संग्रह है। यह 1978 में प्रकाशित हुआ था। इसमें संकलित कहानियों के आधार पर जा जाहिर होता है कि व्यंग्य

Scanned with CamScanner

और राजनीति पर मन्नू जी की पकड़ गहरी होती चली गई है। इस कहानी-संग्रह में नौ कहानियाँ संकलित हैं। जिसमें 'आते-जाते यायावर', 'स्त्री सुबोधिनी', 'त्रिशंकु', 'तीसरा हिस्सा', 'शायद', 'दरार भरने की दरार', 'रेत की दीवार', 'अलगाव' तथा 'एखाने आकाश नाई' हैं।

'आते-जाते यायावर' कहानी एक तरफ तो पुरुष की यायावरी मानसिकता के प्रति मिताली जैसी पढ़ी-लिखी नारी के संयमित विरोध को उभारती है। वहीं दूसरी तरफ नरेन एक ऐसा चरित्र भी है जो मानसिक अस्थिरता के कारण कहीं टिक नहीं पाता। पुरुष की यायावरी वृत्ति की शिकार मिताली बार-बार छली जाती है। पहले तो उसका सहपाठी उसके साथ यौन-संबंध बनाकर फिर दूसरे लड़की के से विवाह कर लेता है। निराश और टूटी हुई मिताली नरेन से जुड़ती है, किंतु नरेन ने मुस्कराते हुए कहा 'इस आते-जाते यायावर का नमस्का' मिताली फिर एक बार छली गई। शायद संवेदनशील स्त्री-हृदय ही उसकी कमज़ोरी है।

'त्रिशंकु' कहानी में माँ और बेटी के दृष्टिकोणों के माध्यम से उन्होंने दो पीढ़ियों के अंतर को स्पष्ट किया है। इसमें बुद्धिजीवी की छद्म आधुनिकता पर व्यंग्य है। तनु के माता-पिता इस बुद्धिजीवी वर्ग के प्रतिनिधि हैं जो नारी स्वतंत्रता के समर्थक होने के बावजूद तनु का शेखर से मेल-जोल बर्दाश्त नहीं कर पाते। यहीं मम्मी के माध्यम से से एक ऐसी नारी को चित्रित किया गया है जो आधुनिक और पुरातन के अंतर्द्वंद्व में जीती हुई न तो आधुनिक हो पाती है और न ही परंपरागत। स्वयं मन्नू भंडारी के शब्दों में कहें तो "आधुनिकता और संस्कारों की ऊहापोह में फँसी, त्रिशंकु की तरह लटकी हमारी पीढ़ी की विडंबना ही उजागर हुई है 'त्रिशंकु' में। कहानी में पक्षधरता कतई नहीं, बल्कि अपनी ही धज्जियाँ बिखेरने का एक तटस्थ विवेक है, जो अपनी सीमाओं से उबरने का संकेत भी करता है, सारी ऊहापोह के बाद विकास की दिशा में बढ़ता कदम—आज की मानसिकता।"13

'अलगाव' कहानी में राजनीतिक हथकण्डों एवं कूटनीतिज्ञों का चित्रण है। 'बेलछी' हत्याकांड ने मन्नू भंडारी को काफी विचलित किया था। इस कांड को आधार बनाकर मन्नू भंडारी ने 'अलगाव' कहानी लिखी और आगे चलकर इसको 'महाभोज' उपन्यास में रूपांतरित कर दिया। बिसू की लाश से गिद्धों को लगाव था। कारण वह उनके लिए महाभोज था। "चुनाव में सत्ताधारी पार्टी पर कीचड़ उछालने के लिए विरोधी पार्टी के लिए बिसू की लाश एक हथियार थी। लेखन के विरोध में खड़े होने वाले जोरावर को चुप कराने के लिए दा साहब के लिए बिसू की लाश एक टूल थी। अपनी पदोन्नति के लिए सक्सेना के लिए वह एक सबूत था और माँ-बाप के लिए सिर्फ लाश। डर के मारे हीरा से लेकर महेश तक ने उस लाश से कोई 'लगाव' नहीं दर्शाया अपितु गाँव का हर कोई पुलिस-यंत्रणा से बचने के लिए 'लाश' से अलगाव बरतता रहा।"15 आधुनिक राजनीति व्यवस्था पर मन्नू जी की यह कहानी ज़बरदस्त तमाचा है।

मन्नू भंडारी की कहानियों का मूल्यांकन करने के नाम पर ज़्यादातर कथासार ही प्रस्तुत किए जाते रहे हैं। कभी-कभार 'रुढि विद्रोह कथानकों, भाव-धरातल का चयन, स्वानुभूति की प्रमाणित सहजता', आदि विशेषताओं की गिनती भी की गई है, नहीं किया जाता तो सिर्फ उस प्रश्न का रेखांकन जो इन कहानियों में गूँजते हैं। ये हमारे सोचने-समझने के तरीके की अप्रासंगिकता सिद्ध करते हैं और हमारे शालीन ढोंग को उघाड़कर रख देते हैं। साथ ही ये भारतीय समाज- संस्कृति पर एक गंभीर टिप्पणी करते हैं। कोई भी कथाकार अपने लेखन में जितना कुछ कहता है, उससे कहीं ज़्यादा अनकहा छोड़ जाता है। मन्नू जी की कहानियों का विश्लेषण करते समय इस अनकहे की पहचान और उसकी सार्थकता का आकलन अत्यंतआवश्यक है। इसके बिना उन आधारों की समझ अधूरी होगी जिन पर लेखिका का कथा- संसार निर्मित होता है, साथ ही उन जड़ताओं की भी, जिनसे मुक्ति की आकांक्षा भारतीय स्त्री की आकांक्षा है। मन्नू जी का कथा- संसार बेशक बहुत व्यापक एवं वैविध्यपूर्ण नहीं है, तो भी अपनी सीमाओं में शक्ति संपन्न ज़रूर है। उसमें संवेदनशीलता और गहन संबद्धता का अभाव कतई नहीं दिखता।

संदर्भ संकेत :

1. मन्नू भंडारी :'एक कहानी यह भी', राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 63
2. 'मैं हार गई' (कहानी-संग्रह) : मन्नू भंडारी, पृ. 17
3. 'प्रतिनिधि कहानियाँ' :मन्नू भंडारी, पृ. 37 (अकेली), राजकमल प्रकाशन, 2003
4. 'कहानी का विकास' :मधुरेश, पृ. 109, सुमति प्रकाशन, 2004

Scanned with CamScanner

5. 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' :मन्नू भंडारी, पृ. 6, किताबघर, 1994
6. 'प्रतिनिधि कहानियाँ' :मन्नू भंडारी, पृ. 62
7. वही, पृ. 65
8. 'हिंदी कहानी का सफर' :रमेशचंद्र शर्मा, पृ. 67, भारत प्रकाशन, 1982
9. 'नई कहानी : संदर्भ एवं प्रकृति' : देवीशंकर अवस्थी, पृ. 222, राजकमल प्रकाशन, 2002
10. 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' :मन्नू भंडारी, पृ. 8, किताबघर, 1994
11. 'एक कहानी यह भी' :मन्नू भंडारी, पृ. 200, राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007
12. 'प्रतिनिधि कहानियाँ' :मन्नू भंडारी, पृ. 86
13. 'प्रतिनिधि कहानियाँ' :मन्नू भंडारी, पृ. 8
14. 'प्रतिनिधि कहानियाँ' :मन्नू भंडारी, पृ. 65
15. कथाकार मन्नू भंडारी : अनीता राजूरकर, पृ. 69, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1987

Scanned with CamScanner

20-21

ISSN: 2394 5303 | Impact Factor 7.387(IIJIF) | Printing Area® Peer-Reviewed International Journal | November 2020 Issue-71, Vol-03 | 01

आंतरराष्ट्रीय बहुभाषिक शोध पत्रिका

प्रिंटिंग एरिया

Printing Area International Interdisciplinary Research Journal in Marathi, Hindi & English Languages

November 2020, Issue-71, Vol-03

Editor
Dr. Bapu g. Gholap
(M.A.Mar.& Pol.Sci.,B.Ed.Ph.D.NET.)

"Printed by: Harshwardhan Publication Pvt.Ltd. Published by Ghodke Archana Rajendra & Printed & published at Harshwardhan Publication Pvt.Ltd.,At.Post. Limbaganesh Dist,Beed -431122 (Maharashtra) and Editor Dr. Gholap Bapu Ganpat.

Reg.No.U74120 MH2013 PTC 251205
Harshwardhan Publication Pvt.Ltd.
At.Post.Limbaganesh,Tq.Dist.Beed
Pin-431126 (Maharashtra) Cell:07588057695,09850203295
harshwardhanpubli@gmail.com, vidyawarta@gmail.com
All Types Educational & Reference Book Publisher & Distributors www.vidyawarta.com

Scanned with CamScanner

36

बिहारी–सतसई में अभिव्यक्त समय एवं समाज

डॉ.अभिषेक कुमार पटेल
सहायक प्राध्यापक
शासकीय शहीद कौशल यादव महाविद्यालय
गुण्डरदेही, जिला–बालोद, छत्तीसगढ

प्रत्येक युग के बड़े रचनाकार की कविता में उसका युग एवं समाज प्रतिबिंबित होता है। बिहारी रीतिकाल के शीर्षस्थ रचनाकार हैं। उनकी प्रतिनिधि रचना 'बिहारी सतसई' में उनके दृष्टिकोण एवं संस्कार के अनुरूप तात्कालीन समाज के अनेक चित्र दिखाई देते हैं। बिहारी का युग अकबर के शासन का उत्तरार्द्ध और औरंगजेब के राज्याभिषेक के कुछ वर्षों तक फैला हुआ है। इस काल की साहित्यक, संस्कृति और सामाजिक विशेषताओं की अनुगूंज बिहारी–सतसई में स्पष्ट सुनाई पड़ती है ।

रीति काव्य जिस दरबारी परिवेश में रचा जा रहा था वहाँ काव्य मात्र क्रीडा और मनोविनोद की वस्तु बनकर रह जाता है। उसमें अलंकारों की प्रचुरता ,उक्ति की बारीकी और भाषा की सजावट–मँजावट पर अधिक ध्यान दिया जाता है और उद्देश्य की व्यापकता गौण पड़ जाती हैं । बिहारी के काव्य में भी सारी बातें कमोवेश देखी जा सकती है। इस अर्थ में 'बिहारी सतसई' अपने परिवेशगत संस्कारों का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता है। रीतिकाल में दो प्रमुख साहित्यक प्रवृतियाँ अभिन्न रूप से गुंथी हुई थी।

१. रीति निरुपण अथवा आचार्यत्व और २. श्रृंगारिकता

बिहारी सतसई में दोनों का अपूर्व समन्वय देखने को मिलता है। साथ ही साथ राज प्रशस्ति, भक्ति और नीति के काव्य भी गौण रुप से रीतिकालीन काव्य परंपरा से जुड़ गए थे। इन गौण रुपों का निरूपण भी बिहारी सतसई में हुआ है। रीतिकाल के कवियों को मुख्यत: तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है–

१. रीतिमुक्त या स्वच्छंद कवि वे है जिन्होंने सामान्य रूप से काव्य रचना की और जिनकी रचनाओं में श्रृंगार रस वर्णन की प्रधानता रही। घनानंद ,आलम आदि इस धारा के कवि माने जाते हैं।
२. रीतिबद्ध– इस धारा के कवियों ने अलंकार, नायिका भेद आदि के लक्षण बताकर उनके उदाहरण स्वरूप काव्य रचा है। केशव, पद्माकर ,मतिराम आदि इस धारा के प्रमुख कवि थे।
३. रीतिसिद्धि– इसमें वह कवि आते हैं जो लक्षण उदाहरण की पद्धति प्रकट रूप में तो नहीं अपनाते किंतु रचना करते समय उनका ध्यान रखते हैं। बिहारी ऐसे ही कवि है।

'बिहारी सतसई' में सभी पद्धतियों के सुंदर उदाहरण मिल जाते हैं। अलंकार ,रीति ,वक्रोक्ति ,ध्वनि आदि सभी गागर सागरवत् उनकी सतसई में प्राप्त हो जाते हैं। अप्रस्तुत विधान में बिहारी अप्रतीम है। उपमा ,उत्प्रेक्षा, रूपक, विरोधाभास, अन्योक्ति, विभावना, यमक, वक्रोक्ति आदि लगभग समस्त अलंकारों का खजाना उनके सतसई में मिलता है। उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण ही उनकी अलंकार सिद्वी का प्रमाण दे जाता है।

छिपयो छबीलो मुख लसै, नीले अंचल चीर।
मनो कलानिधी झलमलेय कालींदी के नीर।।"

बिहारी का शायद ही कोई ऐसा दोहा है जिसमें किसी न किसी अलंकार का प्रयोग ना मिले। कहीं–कहीं तो एक साथ ५–६ अलंकार लिपटे हुए दिख पड़ेंगे, जैसे निम्नलिखित दोहे में हमें एक ही जगह वृत्यनुप्रास ,छेकानुप्रास, उपमा, तद्गुण, परिकर देहली– दीपक आदि अनेक अलंकार संश्लिष्ट दीख पडते है।

हौं रीझी लखि रीझी हौं, छबिहि छबीले लाल ।
सोनजूही सी होत दुति, मिलत मालती माल।।"

Scanned with CamScanner

रीतिकाल में मुख्यत: तीन संप्रदाय प्रचलित थे— अलंकार,रस और ध्वनि। बिहारी आलंकारिक चमत्कार के अनावश्यक मोह से कहीं भी ग्रस्त नहीं हुए । उन्होंने अलंकारों का प्रयोग साधन के रूप में किया है, साध्य के रूप में नहीं। रस भी बिहारी का साध्य लक्षित नहीं होता। वे वस्तुत: ध्वनिवादी हैं। रस—ध्वनि, अलंकार—ध्वनि और वस्तु—ध्वनि को ग्रहण करके बिहारी ने सांकेतिक अर्थ को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। अत: उनकी रूचि ध्वनि संप्रदाय की ओर अधिक है।

रीतिकाल मुक्तकों का युग था । अलंकारिकता, चमत्कारप्रियता , एवं बहुज्ञता का प्रदर्शन करने हेतु भी मुक्तक रचना की प्रवृत्ति का विकास रीतिकाल में हुआ। तत्कालीन दरबारी वातावरण के लिए मुक्तक रचनाएं ही अधिक उपयुक्त थी, क्योंकि राजा— महाराजाओं के पास इतना अवकाश कहां था कि वह प्रबंध काव्य को सुनकर उसकी सराहना करें। ''मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुंचा है, इसमें संदेह नही''१। उन्होंने दोहे जैसे छोटे छंद में इतने अधिक भावों का समावेश किया है कि आलोचकों को उसके विषय में यह कहना पड़ा है कि ''बिहारी ने गागर में सागर भर दिया है।'' उनकी सतसई के बारे में यह उक्ति प्राय: कही जाती है —

सतसैया के दोहरे ,ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगै, बेधै सकल शरीर।।''२

रीतिकाल में ब्रजभाषा काव्य की भाषा थी।

बिहारी —सतसई की भी रचना ब्रज भाषा में ही हुआ है। इसे बिहारी ने रीतिकालीन अलंकरण तथा चमत्कारपरक भंगिमाओं में अच्छी तरह ढालकर और सशक्त बनाया। उन्होंने शब्द—चयन की सार्थकता के साथ उसकी अनगढ़ता को तराशकर नया रूप प्रदान किया।

वस्तुत: शब्दों की तराश बिहारी की काव्यभाषा की महत्वपूर्ण विशेषता है। उनका पूरा बल शब्दों की तराश पर केंद्रित रहा। यह तराश दो रूपों में देखी सकती है—

१. शब्दों का अनुकूलन करके जैसे परझांई की जगह झाई का विशेष रूप से प्रयोग।

२. कुछ शब्दों में प्रत्यय लगाकर जैसे सरौहे या सवादिल जैसे विशेषण। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने बिहारी की इस तराश को लक्षित करते हुए लिखा है—'' ''ध्वन्यात्मक और व्याकरणिक दोनों स्तरो पर कविता की यह भाषित तराश रीतिकालीन मनोवृति और मुगलकालीन कला की बारीक पसंदी के समानांतर चलती है। इस संदर्भ में बिहारी को रीतिकालीन काव्य भाषा का प्रतिनिधि कहा जा सकता है।''३

फारसी साहित्य के 'कसीदा' पद्धति के प्रभाव वश रीतिकाल के कवियों में आश्रयदाता की खुशामद एवं चाटुकारी संबंधी छंद लिखने की प्रवशत्ति आ गई थी । बिहारी सतसई भी इससे अछुता नहीं है—

प्रतिबिंबित जयसाहि—दुति दीपत दरपन धाम।
सब जगु जीवन कौं कार्‌यौ काय—व्यूह मनु काम।।

''फारसी साहित्य के प्रेम निरूपण का प्रभाव भी इसके कुछ दोहों में है। इन दोहों में बिहारी भारतीय संस्कृति से हट गए हैं ,यह प्रभाव विशेष रूप से अतिशयोक्ति पूर्ण विरह वर्णन पर पड़ा है।''४

औ घाई सीसी सुलखि विरह वरनि बिल लाल।
बिच ही सूखि गुलाबु गौ छींटौ हुई न जात।।

अरबी फारसी के शब्द इजाफा, नेजर शबीह एबी, पायन्दाज आदि का प्रयोग रीतिकालीन साहित्यक परंपरा के प्रभाव को ही दर्शाता है।

''अपने अंग के जानि कै जोबन—नरपति प्रबीन।
स्तन,मन,नैन,नितंब,की बडौ इजाफा कीन।।

रीतिकालीन कवियों के काव्य का केंद्र बिंदु है— श्रृंगार। बिहारी सतसई में भी काव्यशास्त्र की परंपरा में बंधे हुए श्रृंगार के विभिन्न भेद— उपभेद ,हाव—भाव ,नख— शिख ,नायिका भेद आदि का विशद निरूपण किया गया है। राधा कृष्ण की यह क्रीडा कितनी आकर्षक है—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौहं करै भौहनु हंसे देन कहै नटि जाय।।

Scanned with CamScanner

बिहारी सतसई में''श्रृंगार के रस राजत्व पर इतना बल दिया गया है की अन्य रसों की अपेक्षा ही नहीं की गई है, उन्हें उसके मेल से दूषित बना दिया गया है।''५ प्रमाण यह दोहा है–

बिहंसि बुलाई त्रिलोकि दुत विलोकित,
प्रौढ तिया रसधूमि।
पुलकि पसीजति पूत को,
पिय चूम्यौ मुख चूमि।।''

इसमें वात्सल्य से श्रृंगार की उद्भावना की गई है। रीति काव्य का प्रमुख प्रतिपद्य तो श्रृंगार ही है, तथापि उसमें भक्ति एवं नीति संबंधी सूक्तियॉ भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। बिहारी ने भी भक्ति और नीति के दोहे लिखे हैं और यहां वे दरबारी संस्कृति से मुक्त होते प्रतीत होते हैं। यह सही है की रीतिकाल के अधिकांश कवियों की भांति बिहारी की भक्ति भी औपचारिक है और शायद कवि के आत्म प्रबोध का एक बहाना भी । बिहारी ने जहां अपने आराध्य का स्मरण किया है वहॉ भी उनकी रसिकता, चमत्कार प्रियता और अलंकरण वृत्ति साथ लगी हुई है। सतसई के मंगलाचरण वाले दोहों में नागरी राधा से सांसारिक कष्टों के षमन के लिए निवेदन किया गया है।

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरी सोई।
जा तन की झाँई परैं श्याम हरित दुति होई।।

बिहारी के नीति के दोहे बहुत प्रसिद्ध है। यह दोहे बिहारी के विशद जीवनानुभव और बहुज्ञता के प्रमाण है। उन्होंने देखा था कि धन का नशा धतूरे के नशे से भी बढ़कर होता है।

कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वहि खाए बौरात नर यहि पाए बोराय।।

यहां बिहारी ने अपने युग के साहित्यिक परंपरा के अनुरूप ही कविता में चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति का परिचय भी दिया है। इसमें कनक शब्द का दो बार प्रयोग अलग–अलग अर्थों में करते हुए यमक का विधान किया गया है। बिहारी प्राय: दोहरे के अर्थों का समावेश अर्थ में करके चमत्कार सशष्टि करते हैं।

उपयुक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि 'बिहारी–सतसई' रीतिकाल की प्रतिनिधि रचना है क्योंकि इसमें रीतिकाल के समस्त साहित्यिक विशेषताएं मौजूद है।

भाषा एवं संस्कृति का अविच्छन्न संबंध है। इसलिए यह स्वभाविक है कि बिहारी के श्रृंगार वर्णनों में ब्रज क्षेत्र की तत्कालीन संस्कृति का केंद्रीय रूप प्रति–फलित हो। ''बिहारी की नायिक शास्त्रीय ग्रंथों से बाहर अपनी सज्जा बोली –बानी और चेष्टाओ में ठेठ ब्रज की युवती है। बिहारी ने राधा कृष्ण की श्रशंगार और भक्ति की जीवंत परंपरा को अपनाया। ब्रज की स्वच्छंद और रस मय जीवन पद्धति का प्रभाव सतसई पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। बिहारी ने होली में होने वाले चुहलबाजियो का स्टीक वर्णन किया है–

पीठि दियेहीं नैक मुरि, कर घूंघट पट टारि।
भरि गुलाल की मूठी सों, गई मूठि सी मारि।।

बिहारी बहुज्ञ थे, उन्हें विविध विषयों– ज्योतिष ,आयुर्वेद ,राजनीति ,नीतिशास्त्र ,इतिहास– पुराण ,गणित आदि की अच्छी जानकारी थी।

निम्न सोरठा में बर्षो योग नामक ग्रह संस्था का योग है–

मंगल बिंदु सुरंग मुख ससि केसर आड़ गुरू।
इस नारी लहि संग रसमय किय लोचन जगत।।

बिहारी ने इस वर्षा योग को श्रंगार के प्रसंग में नायिका पर घटित किया है इस प्रकार उन्हें श्रीकृष्ण द्वारा अधासुर के वध का वृतांत भी पता था जिसका उल्लेख वे निम्न दोहों में करते हैं–

यौं दल काढ़े बलक तैं तैं जयसिंह भुवाल ।
उदर अधासुर के परैं ज्यो हरि गाइ गुवाल।।

बिहारी को लोक संस्कृति का ज्ञान भी था। लोक के रीति– रिवाज, त्योहार ,पर्व ,खेल आदि का वर्णन भी उनके दोहो में देखा जा सकना है। इसलिए यह कहना असंगत नहीं है की संस्कृति, समाज एवं इतिहास का समावेश केवल प्रबंध काव्य में ही रहता है। बिहारी ने अपने दोहों में इन तीनों की विशेषताएं भर दिया है।

जहांगीर– शाहजहां का काल वैभव विलास और कला की नक्काशी का काल था । पूरा उच्चवर्ग

Scanned with CamScanner

विलासिता से ओतप्रोत था। आम जनता उपेक्षित ,शोषित और पीड़ित थी। इस युग में बिहारी का जन्म एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ। पर जयपुर दरबार की कृपा से वे सामंती वर्ग में दीक्षित हो गए। यह घराना वैभव और चकाचौंध का संसार था अत: उनका समूचा दृष्टिकोण 'नागरिको' का दृष्टिकोण हो गया।'' पर वह अपने मध्यवर्गीय संस्कारों के फलस्वरूप उस वर्ग की भी बहुत सी बातें जाने –अनजाने उनके दोहों में अभिव्यक्त हो उठी है।''७ बिहारी को अपनी नागर संस्कृति पर गर्व था। अत: बिहारी की कविता में अभिव्यक्त समाज मूलत उच्च वर्गीय समाज हैं। उसमें समाज के सामान्य जनों के चित्र गिने चुने हैं जिनमें उसकी दयनीय अवस्था उसके शोषण का प्रमाण मिलता है। उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग की आर्थिक स्थिति के वैभिन्य को ग्रामीण बाला के निम्नलिखित चित्र में लक्षित किया जा सकता है।

गदराने तन गोरटी ऐपन आड़ लिलार।
हुठयौ दै इठलाई ,दृग करै गंवारि सुवार।।

इस बाला के आभूषण से उनकी गरीबी का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके विपरीत उच्च वर्ग अत्यंत समृद्ध था। इस वर्ग की नायिकाओं के पास आभूषणों की भरमार थी। एक जगह तो सहज शोभा भरी युवती पर कृत्रिम आभूषणों का बोझ देखकर बिहारी कह उठते है–

भूषण भारि संभारि है,क्यों यह तब सुकुमारि।
सुघे पांव न घटि परत शोभा ही के मारि।।''

तत्कालीन शहरी समाज की विलासिता बिहारी –सतसई में पूरी तरह से मूर्त हो उठी है। इस कृति में उस युग के पतनशील समाज को सजीव रूप में देखा जा सकता है सामंतों ,रईसों ,छोटे अधिकारियों का समय आमोद–प्रमोद में गुजरता था । सर्वत्र विलास का एकछत्र राज्य था।

उड़त गुड़ी लखि लाल की ,अंगना अगना मांह।
बौरी ही रोरी किरति, छुवति छबीली छांह ।।''

हिंदू और मुसलमान अपना नैतिक तेज खोकर विलास जर्जर हो गए थे। बिहारी ने इस दशा का सिद्धांत सूत्र दिया–

तीज तीरथ हरि राधिका ,तन द्रुति करि अनुरागु।
जिहि ब्रज केलि निकुंज मग , पग पग होत प्रयागु।।''

दाम्पत्य– जीवन किसी भी समाज का महत्वपूर्ण अंग हैं। तत्कालीन दाम्पत्य जीवन में नैतिकता एवं एक निष्ठता के हास् के स्पष्ट संकेत बिहारी की कविता में मौजूद है। उदाहरण के लिए–एक जमाना था जब देवर भाभी संबंध शुद्ध विनोद तक सीमित था परंतु रीतिकालीन के देवरो का आदर्श देखिए–

कहति न देवर को कुबत, कुलतियां कलह डराति।
पंजर गत मंजार ढिग, सुख लौं सूक्ति जाति ।।''

रीतिकाल में स्त्री प्रेम की वस्तु नहीं थी विलास की वस्तु थी । नारी के प्रति विलासी दृ ष्टिकोण बिहारी के दोहों में लक्षित होता है।

इसलिए वहां नारी के कोमल हदय की बात कहीं नहीं है। बल्कि उनकी अनेकानेक भंगिमाओ एवं चेष्टाओं के चित्रों का बाहुल्य है । उन्होंने उसे घर में, घाट–बांट में कुंज–वन में सर्वत्र शोखी से भरी हुई देखा है।

तो तन अवधि अनूप रुप लाग्यों सब जगत को।
मों दृग लागों रुप,दृगनि लगी अति चटपटी।।''

बिहारी की कविता में तत्कालीन समाजं में प्रचलित आडम्बरों को भी लक्षित किया जा सकता है जिन पौराणिको, वेद्यों, ज्योतिषियों और सहृदयों पर बिहारी ने व्यंग्य किया है, वह सामंतीय सामाजिक व्यवस्था की असंगतियां हैं। पुस्शौत्व की दवा देने वाले एक वेद्य जी के प्रति कितना गहरा व्यंग्य है।

बहुधन ले अहसान कै पायै देत सराहि।
वैदवधू हंसि भेद सौं रही नाह –मुँह चाहि।।

भक्त कवियों और संतों ने प्राय वाह्य आडंबर को व्यर्थ बतलाते हुए आंतरिक प्रतीति में अपनी आस्था प्रकट की है बिहारी ने इस विषय में स्फुट ढंग से जो कुछ लिखा है वह उन्हीं भक्तों और संतों की परंपराओं में पड़ता है।

बिहारी तत्कालीन समाज में प्रचलित तीर्थ– व्रत और कर्मकांड को व्यर्थ घोषित कर अनन्य भगवत प्रेम और सत्संग पर बल देते हैं।

जप माला छापा तिलक सरै ,न एको काम।

Scanned with CamScanner

मन काँचें नांचै वृथा साँचे राँचे राम।।''

बिहारी के काव्य में तत्कालीन राजनीतिक प्रवृत्तियों के भी दर्शन होते हैं। बिहारी सतसई के अध्ययन से यह निष्कर्ष यह निकलता है कि वह इस काल की राजनीतिक दॉव पेंचों से अनभिज्ञ न थे। वे अपने आश्रयदाता जयसिंह का मुगलों के साथ सहयोग स्पष्टता घोषित करते हैं ।

सामां सेन समान ही सबै साहि के साथ।
बाहुबली जय साहि जू, फने तिहारे हाथ।।

मुगलों के संकेत पर राजा जय सिंह उनके विरोधियों का निर्ममता से संहार करता था। इस नीति से बिहारी का मन क्षुब्ध था। एक दोहे में वे कहते हैं–

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देखि विहंग बिचारि।
बाज पराए पानि परि तूं पच्छीन न मारि।।''

इस प्रकार बिहारी सतसई में तत्कालीन नगर समाज को लक्षित किया जा सकता है । इस वर्ग का चित्रण बिहारी ने ईमानदारी से किया है। अपने नागर एवं सामंती दृष्टिकोण के कारण सामान्य जन की स्थिति उनकी आंखों से ओझल ही रही और जहां चित्रित भी हुई है वहां उपहास गर्भित रुप में। यह बिहारी की ही नहीं, समुचे रीति काव्य की सीमा है।

भाव अनुभूति और चेतना को बिहारी मार्मिक शब्दों और प्रभावशाली बिम्बो में प्रकट करने में अप्रतिम हैं। बिहारी विदग्ध कवि होते हुए भी अत्यंत मौलिक हैं। केवल एक ग्रंथ की रचना करके भी कवियों की पंक्तियों में बिहारी का उत्कृष्ठ स्थान है।''८ कवि के रूप में वे हिंदी साहित्यिक के गौरव है और उनकी सतसई काव्य की अपूर्व निधि है। इसे रीतिकाल की साहित्यक, सांस्कृतिक और सामाजिक विशेषताओं का दर्पण माना जा सकता है।

संदर्भ :–

१. हिंदी साहित्य का इतिहास –आचार्य रामचंद्र शुक्ल, प्रकाशन संस्थान २००४ पृष्ठ –१८९
२. वही, पृष्ठ–१९०
३. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास ड़ॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, २००९, पृष्ठ– ६४,
४. बिहारी– संपादक – डॉक्टर ओम प्रकाश,राधाकृष्ण प्रकाशन, १९७० पृष्ठ –९९
५. वही , पृष्ठ–९८
६. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास– डॉक्टर रामस्वरूप चतुर्वेदी , पृष्ठ–६४
७. बिहारी का नया मूल्यांकन – डॉक्टर बच्चन सिंह लोक भारती प्रकाशन २००१, पृष्ठ–११५
८. हिंदी साहित्य का इतिहास संपादक – डॉ नगेंद्र, मयूर पेपर बॉक्स, २००१, पृष्ठ–३४९

❑❑❑

Scanned with CamScanner

UGC Approved Journal No. 49321 Impact Factor : 2.591
Shodh Drishti (An International Peer Reviewed Refereed Research Journal), Vol. 10, No. 7.2, July, 2019 ISSN : 0976-6650

1857, साझी विरासत की लड़ाई एवं हिंदी नवजागरण

डॉ. अभिषेक कुमार पटेल
सहायक प्राध्यापक, शासकीय शहीद कौशल यादव महाविद्यालय, गुण्डरदेही , छत्तीसगढ़

1857 का स्वाधीनता संग्राम भारतीय इतिहास की एक ऐसी महत्वपूर्ण घटना है, जिसने भारतीय इतिहास के विविध पक्षों यथा - राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक पहलुओं को प्रभावित किया । पहली बार हिन्दू व इस्लाम धर्म के अनुयायियों को प्रभावित किया और लम्बे समय से चले आ रहे अंग्रेजी शोषण नीति के विरूद्ध सशक्त प्रतिरोध का उदाहरण प्रस्तुत किया । फिर, 1857 की लड़ाई का महत्व एक अन्य दृष्टि से काफी बढ़ जाता है । ज्ञातव्य है कि भारत में 1857 को नवजागरण से जोड़कर भी देखा जाता है । यही वह वर्ष है, जब भारत में विभिन्न क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं तथा घटनाओं को ध्यान में रखते हुए नवजागरण की शुरूआत होती है । इसी दौर में हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत नवजागरण के बीज हमें भारतेन्दु तथा उनके समकालीन अन्य साहित्यकारों की रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है । प्रसिद्ध आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने इस पक्ष पर काफी विस्तार से विचार किया है ।

हम जानते हैं कि हिन्दी में पुनर्जागरण, नवजागरण आदि अनेक संज्ञाओं का व्यवहार किया जाता है । जब हम इसके अर्थ की व्युत्पत्ति पर विचार करते हैं, तो पुनर्जागरण का अर्थ होता है, पुनः जागना । अर्थात् पहले हम जगे थे, हमारे अंदर ज्ञान की चेतना व्याप्त थी, परन्तु बाद में हम सो गए अर्थात् ज्ञान से विमुख हो गए थे, अब एक बार फिर जागने का समय आया है । परन्तु यह नामकरण भारतीय संदर्भों में बहुत उचित नहीं प्रतीत होता है । इसका बड़ा कारण यह है कि भारत में ज्ञान के अंधकार जैसी स्थिति कभी रही ही नहीं । फिर, जहाँ तक नवजागरण शब्द का प्रश्न है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है नए ढंग से जागना । अर्थात् हम पहले भी जगे थे, अर्थात् पहले भी हमारे भीतर ज्ञान की चेतना व्याप्त थी, परन्तु अब जागने का दृष्टिकोण बदल चुका है । अर्थात् अब हम नए ढंग से सोचने लगे है ।

ज्ञातव्य है कि नवजागरण की यह अवधारणा यूरोपीयन पुनर्जागरण या रेनेसा से जोड़कर देखी जाती है । यूरोप से यह भारत में बंगला व मराठा पुनर्जागरण के रूप में अभिव्यक्ति हुई और कालान्तर में वहाँ से हिन्दी क्षेत्र में व्याप्त होती चली जाती है । डॉ. रामविलास शर्मा ने आजादी के 30 साल बाद 1977 में एक पुस्तक लिखी - "महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण", इसमें उन्होंने हिन्दी नवजागरण पर बांग्ला नवजागरण का प्रभाव स्वीकार किया है । जहाँ तक बांग्ला, मराठी तथा दक्षिण भारत नवजागरण तथा हिन्दी नवजागरण के विभेद का प्रश्न है तो इसका असर हिन्दी नवजागरण पर पड़ा था, लेकिन बंगाल, महाराष्ट्र या दक्षिण में स्त्री शिक्षा, स्त्री मुक्ति आन्दोलन, दलित समस्या तथा शिक्षा को लेकर नवजागरण का जो तीव्र उभार दिखाई देता है, वह हिन्दी क्षेत्रों में नहीं था । फिर, ईसाई मिशनरियाँ उत्तर भारत के हिन्दी क्षेत्रों में कम थी, अतः शिक्षा का ज्यादा प्रसार भी नहीं हो पाया । बंगाल, महाराष्ट्र व दक्षिण भारत के नवजागरण का रूख ब्रिटिश साम्राज्यवाद अथवा अंग्रेजों के प्रति सकारात्मक और समर्पण का था, जबकि हिन्दी क्षेत्र के नवजागरण में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के प्रति तीखा आक्रोश था ।

ध्यातव्य है कि इस संबंध में डॉ. रामविलास शर्मा के यहाँ चार संज्ञाये देखने को मिलती हैं - लोकजागरण, जनजागरण, पुनर्जागरण और नवजागरण । इसमें सबसे अंतिम अर्थात् नवजागरण सब पर भारी रहा । प्रदीप सक्सेना के अनुसार - मैंने पूछा (रामविलास शर्मा जी से) आखिर आप नवजागरण का अंग्रेजी स्थानापन्न क्यों नहीं देते है ? उन्होंने कहा - "यह किसी शब्द के समकक्ष नहीं है ।"1

डॉ. रामविलास जी के समूचे लेखन कर्म में हिन्दी नवजागरण की अवधारणा केन्द्रीय महत्व रखती है । इसका सबसे महत्वपूर्ण पहलू है - "भारतेन्दु युग की साहित्यिक गतिविधियों को हिन्दी क्षेत्र में सांस्कृतिक नवजागरण का मार्मिकता निरूपित करना, इस नवजागरण का संबंध बंगाल के प्रभाव से जोड़ने का खंडन करते हुए इसका संबंध 1857 के स्वाधीनता संग्राम से जोड़ा ।"2 उनके अनुसार "भारतेन्दु युग हिन्दी नवजागरण का दूसरा चरण है, द्विवेदी युग तीसरा और छायावाद चैथा चरण है।"3

Scanned with CamScanner

भारतेन्दु युग और नवजागरण की चर्चा करने से पहले थोड़ी चर्चा यूरोपीय पुर्नजागरण और उसके प्रभाव व अंतर पर भी करना आवश्यक है । ज्ञातव्य है कि यूरोप में आधुनिकता के दो चरणों पुनर्जागरण (रेनेसा) और ज्ञानोदय या प्रबोधन (एनलाईटेनमेंट) की बात की जाती है । नवजागरण जैसा कोई संदर्भ यूरोपीय संदर्भ में प्रयुक्त नहीं होता है । यूरोप में आधुनिकता के दो चरणों पुनर्जागरण और ज्ञानोदय या प्रबोधन (एनलाइटेनमेंट) की बात की जाती है । नवजागरण जैसा कोई शब्द यूरोपीय संदर्भ में प्रयुक्त नहीं होता जैसे रिनैसांस का देखने में मिलता है । "बिल डयूरां ने 'द रिनैसांस' में लिखा है कि 16वीं शताब्दी में इटली में नए पुत्र को - क्या रिनास्विता (पुनर्जन्म) कहा गया । अंग्रेजी में 'रिनैंसां' शब्द फ्रेंच में रेनैसान्स से आया । फ्रांस में रेनैसान्स का प्रयोग अठारहवीं सदी में हुआ । सर्वप्रथम जैकब बर्कहार्ट ने 'दि सिविलाइजेशन आॅफ रेनिसांस इन इटली (1860) में 'रेनैसां' के इतिहास पर प्रकाश डाला । यूरोप में अन्धकार युग के बाद रेनैसां आया पर भारत में उन्नीसवीं सदी के नवजागरण के पूर्व कोई अंधकार काल नहीं था । यूरोप में रेनैसां ने प्राचीन रोम और यूनान से अपनी वैचारिक प्रेरणा प्राप्त की थी । भारत के नवजागरण और यूरोप के नवजागरण में अंतर है । यहाँ नवजागरण तब आया जब भारत पराधीन हो चुका था । यूरोप में ऐसी स्थिति नहीं थी... उन्नीसवीं सदी के भारतीय नवजागरण में राष्ट्रीय भावना प्रमुख थी ।"4 यहाँ जिस यूरोपीय नवजागरण की बात की जा रही है, वस्तुतः वह ज्ञानोदयकालीन यूरोप की बात है और 'बेंगाल रेनैसां' का जो हिन्दी तर्जुमा 'बंगला नवजागरण' नाम से मिलता है । बंगला नवजागरण भी ज्ञानोदय काल वाले यूरोप को अपना माॅडल मानता है।

डाॅ. रामविलास शर्मा के अनुसार 1857 ई० से आरंभ होने वाले हिन्दी नवजागरण का अगला चरण है भारतेन्दु काल । "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन लेखकों को 1857 से जोड़ने वाले दो मुख्य चीजें हैं:- (1) राष्ट्रीय स्वाधीनता का उद्देश्य और (2) अंग्रेजी राज के स्वरूप की पहचान ।"5 ऐसी स्थिति में देखना आवश्यक जान पड़ता है कि "1857 के स्वाधीनता संग्राम और हिन्दी नवजागरण के बीच क्या संबंध था ? क्या सचमुच भारतेन्दु युग 1857 के साम्राज्य-विरोधी जागरण से जुड़ा हुआ है ? क्या सचमुच हिन्दी नवजागरण 1857 के व्यक्त जागरण की ही अगली ऐतिहासिक अवस्था है ? क्या सचमुच हिन्दी नवजागरण 1857 की राजनीति और उसकी संवेदना से प्रेरणा लेता है ?"6

डाॅ. रामविलास शर्मा का मानना है कि "1857 की स्वाधीनता संग्राम का चरित्र असांप्रदायिक और राष्ट्रीय था और राजसत्ता की मूल समस्या सामंतों के नही जनता के हित में हल की गई थी ।"7 जबकि भारतेन्दु-काल में यह असांप्रदायिक चरित्र बना नहीं रह सका । 1868 ई० में नागरी अक्षरों की सरकारी स्वीकृति के बाद सर सैय्यद अहमद को निश्चय हो गया कि 'अब हिन्दू और मुसलमान साथ नहीं रह सकते ।' दूसरी ओर प्रतापनारायण मिश्र का यह कथन हिन्दी नवजागरण की भाषा संबंधी चिंता को बहुत सटीक ढंग से व्यक्त करता है । हिन्दी का पूर्ण प्रचार हुए बिना हिन्दुओं का उद्धार असंभव है ।"8

यह मानसिक बदलाव भारतेन्दु काल में क्यों होता है ? 1857 के हिन्दू-मुस्लिम एकता को अपने साम्राज्य के लिए खतरा मानते हुए अंग्रेजी राज ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति अपनाते हुए सांप्रदायिकता के बीज बोये ।

पूरे हिन्दू या मुस्लिम कौम की बातों और माँगों को सुनना, अंग्रेजों के लिए व्यवहारिक तौर पर संभव नहीं था । अतः इन कौमों से उन्होंने प्रतिनिधि चुन लिए । सर सैय्यद अहमद मुस्लिमों के प्रतिनिधि बने । "अंग्रेजों ने इस भेद को और गहरा किया । गिलक्रिस्ट ने हिन्दुओं और मुसलमानों की अलग भाषाओं के सिद्धांत की रचना की । रिज्ले ने धर्म के आधार पर दो कौमें गढ़ी और गियर्सन ने भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में फूट के उसूल को धार्मिक रूप दिया, सर सैय्यद ने लश्करों में नई भाषा की तजवीज पेश की । इकबाल ने मुस्लिम कौम और मुस्लिम संस्कृति का नारा लगाया । ये सब समाजवादी विषवृक्ष के फल थे ।"9

1857 के स्वाधीनता संग्राम और भारतेन्दु-युग के मध्य अंतर इतना ही नहीं था । "1857 की राजनीति का मूलस्वर सचेत राजभक्ति का था ।"10

"1857 के बाद की स्थिति बुनियादी रूप से भिन्न थी । बंगाल, महाराष्ट्र की तरह हिन्दी क्षेत्र में भी पारम्परिक बौद्धिक वर्ग की जगह नए बुद्धिजीवी ने ली । इस नए बुद्धिजीवी शिक्षित समुदाय के सभी प्रतिनिधियों के मन में अंग्रेजी राज का जो मूल्यांकन में सर्वथा भिन्न था... नवजागरण-कालीन बुद्धिजीवी ने स्वत्व को 1857 में व्यंजित दृष्टि से नहीं उससे पहले के वर्चस्व-संघर्षों के मुहावरे में परिभाषित किया । इस मुद्दे पर बंकिमचंद्र, भारतेन्दु सर सैय्यद अहमद और जोतिबा फूले के बीच कोई बुनियादी रूप से पद्धतिगत अंतर नहीं है ।(जोतिबा फूले के लिए अंग्रेज शूद्रों के संरक्षक थे तो भारतेन्दु के लिए मुसलमानों के कठिन दंड से छुड़वाने वाले । उधर 1877-78 में रूस तुर्की युद्ध के संदर्भ में सर सैय्यद अहमद भारतीय मुसलमानों से आग्रह

Scanned with CamScanner

कर रहे थे कि वे ख़लीफ़ा को नहीं वल्कि, अंग्रेजों को इस्लाम के संरक्षक के रूप में देखें ।) अंग्रेजी राज इन सबके लिए न केवल वास्तविकता है वल्कि ऐसा सुअवसर भी जिसका उपयोग अपने-अपने स्वत्व के विकास के लिए किया जा सकता है । भारतेन्दु ही नहीं, उनके समकालीन सभी वुद्धिजीवी निस्संदेह अंग्रेजी राज की आलोचना भी करते हैं, लेकिन वह आलोचना अंग्रेजों की न्याय-वुद्धि तथा अंग्रेजी राज की वैधता पर विश्वास रखते हुए की जा रही आलोचना है ।"11

"पारंपरिक वर्गों से संवद्ध 1857 के विद्रोहियों के विपरित हिन्दी (या वंगला या मराठी) नवजागरण के नेताओं तथा उनके लक्ष्यीभूत श्रोता/पाठक (आडियंस) का संवंध नए मध्यवर्ग से था । इस मध्यवर्ग का उदय चुनौतियों का सामना करते हुए जोखिम उठाकर हुआ था जवकि भारतीय मध्यवर्ग का उदय सरकारी नौकरियों के द्वारा हुआ था ।

इस मध्य वर्ग के पास आरंभ में आत्मवोध और देश-दशा की व्याख्या करने के लिए एक ओर औपनिवेशिक प्रतिमान थे, दूसरी ओर परंपरा की विरासत । इन्ही के मध्य से एक तीसरा मार्ग निकला, जिससे राष्ट्रवादी और राष्ट्रीयता संवंधी सोच भी विकसित हुई । "इसमें दोहरा निषेध या एक ओर तो वर्चस्ववादी औपनिवेशिक प्रतिमानों का निषेध था, दूसरी ओर विकास के राह में अटकाने वाने अतिगता के प्राचीन चिह्नों को भी नकारा गया ।"12 भारतेन्दु काल में उपनिवेश विरोधी चेतना धीरे धीरे आकार ग्रहण कर रही थी । रामविलास शर्मा इसका विकास द्विवेदी-काल से होता हुआ छायावाद तक देखते हैं ।

संदर्भः-

1. प्रदीप सक्सेना-मार्क्सवादी आलोचना और रामविलास शर्मा के मूल्यांकन की समस्याऐं, आलोचना, सहस्राब्दी, अंक-5, अप्रैल-जून-2001, पृ.-100
2. पुरूषोत्तम अग्रवाल, भारतेन्दु और रामविलास शर्मा के भारतेन्दु, आलोचना, पृ.-102
3. मैनेजर पाण्डेय - साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृ.-190
4. पुरूषोत्तम अग्रवाल ,भारतेन्दु और रामविलास शर्मा के भारतेन्दु, आलोचना, पृ.-10
5. मैनेजर पाण्डेय - साहित्य और इतिहास दृष्टि, अरूणोदय प्रकाशन, दिल्ली, 1992, पृ. - 190
6. रामविलास शर्मा - भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. - 13
7. पुरूषोत्तम अग्रवाल -विचार के अनंत, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2000, पृ.-21
8. रामविलास शर्मा - महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल, 1989, पृ.-9
9. पुरूषोत्तम अग्रवाल -विचार के अनंत, वही, पृ - 28
10. रामविलास शर्मा - भारत की भाषा समस्या, राजकमल, 1989, पृ - 88
11. पुरूषोत्तम अग्रवाल - विचार का अनंत, वही, पृ - 26
12. पुरूषोत्तम अग्रवाल ,भारतेन्दु और रामविलास शर्मा के भारतेन्दु, वही, पृ - 106-07

Scanned with CamScanner

UGC Approved Journal No. 48416
Interdisciplinary Journal of Contemporary Research, Vol. 6, No. 8.1, August, 2019

Impact Factor : 2.314
ISSN : 2393-8358

बंगला नवजागरण, मराठी नवजागरण और भारतेन्दु

डॉ. अभिषेक कुमार पटेल
सहायक प्राध्यापक, शासकीय शहीद कौशल यादव महाविद्यालय, गुण्डरदेही , छत्तीसगढ़

"विश्वव्यापी नवजागरण में कुछ ऐसे यूरोपीय तत्व व्यापकता से शामिल रहे हैं, जिन्हें उस दौर तक की मनुष्य जाति का महानतम अनुभव कहा जाता है। उन तत्वों में कुछ हैं - सामंतवाद, मध्यकालीनतावाद और धार्मिक सत्ता के कठोर नियंत्रण से छुटकारा, वैयक्तिकता की पहचान, मोक्ष की धारणाओं से मुक्त होकर भौतिक दुनिया के महत्व की समझ, वैज्ञानिक जिज्ञासा, सचेत रूप से समाज सुधार के प्रयास, बुद्धिमता का धमाका, प्रशासनिक-न्यायिक सुधार, लगातार प्रगति का सिद्धान्त, एक नई जीवन शैली, एक नई संस्कृति और एक नई दुनिया की ओर प्रयास। नवजागरण के इन अभिप्रायों के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि ये वैश्विक उपलब्धियाँ नहीं है, सिर्फ यूरोपीय मानवता की विरासत है।"1 इस विश्वव्यापी नवजागरण में जिन यूरोपीय तत्वों की प्रधानता थी वे तत्व भी मूलतः ब्रिटेन और फ्रांस से ज्यादा संबद्ध थे। बंगाल में नवजागरण का उदय भारत में लगभग नये सूर्योदय की तरह था। अगर हम ध्यान से देखें, तो बंगला नवजागरण से एक संक्रमण की जो प्रक्रिया शुरू हुई, उसका आने वाले भारत के भविष्य पर निर्यायक प्रभाव पड़ा। हमारी सामाजिक, संस्कृति, शिक्षा, सोच और साहित्य पर ही नहीं हमारे धार्मिक सोच पर भी उसका असर पड़ा। बंगला नवजागरण भारतीय नवजागरण का मार्गदर्शक और प्रेरणास्रोत था, इसलिए बंगाल के नवजागरण को बिना विस्तार से समझे हम भारतीय नवजागरण को समझ ही नहीं सकते। यद्यपि बंगाल नवजागरण की अपनी कुछ सीमाएं रहीं हैं लेकिन इससे बंगाल नवजागरण का महत्व कम नहीं हो जाता है। अगर हम बंगाल नवजागरण को प्रभावित करने वाले व्यक्तियों की बात करें तो उनमें राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिमचन्द्र चटर्जी, विवेकानन्द केशवचन्द्र सेन, रामकृष्ण परमहंस, रवीन्द्र नाथ टैगोर आदि का महत्वपूर्ण योगदान है। बंगाल के नवजागरण की मुख्यधारा सामाजिक, शैक्षणिक और धार्मिक सुधार की ही थी। उसका स्वरूप पूरी तरह सांस्कृतिक था और उसमें राजनीतिक स्वर काफी बाद में विकसित हुआ। लेकिन पूरी तरह अनुपस्थित था यह भी नहीं कहा जा सकता है। बंगला नवजागरण की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि इसने महाराष्ट्र, दक्षिण और हिन्दी क्षेत्र को समेटते हुए एक तरह से पूरे भारत वर्ष को जाग्रत और सक्रिय किया।

हिन्दी में बंगाल नवजागरण को साथ रखकर हिन्दी नवजागरण पर विचार करने की कोशिश प्रायः नहीं हुई है। अभी तक बंगाल और हिन्दी नवजागरण को जोड़कर देखने की वस्तुपरक कोशिश का अभाव रहा। अमूमन हिन्दी पाठकों के भीतर बंकिमबाबू की छवि कपाल कुंडला और आनंदमठ पढ़कर ही बनी थी। किसी ने बंकिम बाबू के जीवन के संघर्ष और बौद्धिक विकास को उनकी मूल स्रोत-सामग्री के साथ प्रस्तुत नहीं किया ज्यादातर लोगों ने उनके धार्मिक सोच की सीमाओं और जातीय चेतना को ही चिन्हित करने की कोशिश की है। किसी ने राजभक्ति और राष्ट्रवादी सोच, रूढ़ियों का विरोध, सुधारवादी सामाजिक चेतना को लेकर गंभीर रोशनी नहीं डाली है। अपने निबंध साम्य में वे ब्राह्मण और शूद्र के वैषम्य को अप्राकृतिक मानते थे। उनका उद्धृत एक अंश गौर करने योग्य है - 'ब्राह्मण वध पर महापाप, शूद्र वध पर छोटा पाप, यह प्राकृतिक नियमानुसार नहीं है। ब्राह्मण अबध्य है, शूद्र वध्य क्यों ?' लेकिन बंकिम बाबू के बारे में एक महत्वपूर्ण बात गौर करने वाली है कि आगे उन्होंने इसे एक 'भूल' माना। मगर बंकिम बाबू ने भले ही इसे भूल मान लिया हो, मगर उनके विचार सार्वजनिक हो चुके थे। बंकिम के अनुसार 'पृथ्वी के बड़े से बड़े वैषम्यों से बड़ा वैषम्य ब्राह्मण-शूद्र का स्थितिगत वैषम्य है।' इसी निबंध में उन्होंने समानता के सिद्धान्त को ज्यादा तार्किक करते हुए लिखा है कि 'हमारी मंशा समतावाद की ऐसी विवेचना करने की नहीं हैं, जिसका निहितार्थ यह कि सभी मनुष्यों की एक जैसी ही स्थिति होनी चाहिए। यह कभी भी नहीं होगा। जहाँ भी प्रतिभा, मानसिक शक्ति, इससे असहमत होने को शायद ही कोई तैयार हो। लेकिन, अधिकारों में समानता आवश्यक है।' असल बात समान अवसर के अधिकार का है। जाहिर है वे समाज के शासन के कानून की ओर भी संकेत कर रहे थे। ऐसे में बंकिम बाबू के उपन्यासों से जो उनकी वैचारिक छवि बनती है, उसमें राष्ट्रवाद के हिन्दुत्व से सघन जुड़ाव की बात अक्सर जोड़ी जाती है। जाहिर है इसके प्रयाप्त कारण उनके उपन्यासों में मौजूद भी हैं। मगर राष्ट्रवाद के हिन्दुत्व से रिश्ते में विचारणीय बातें धार्मिकता और सांप्रदायिक कट्टरता की है। इन दोनों के पक्ष को बिना हिगराये हम भारतीय नवजागरण को ठीक-ठीक समझ ही नहीं सकते। अगर हम धार्मिकता और सांप्रदायिकता को प्राय मानकार विचार करेंगे, तो यूरोपीय नवजागरण का चेहरा भी बहुत

Scanned with CamScanner

Impact Factor : 2.314
ISSN : 2393-8358

वदनुमा दिखेगा और विश्व साहित्य के महान् से महान् रचनाकार संकीर्ण और साम्प्रदायिक लगने लगेंगे । दुर्भाग्य से हिन्दी में कई विचारकों ने ऐसी ही चूक की है ।

हम जानते हैं कि बंगाल नवजागरण बम्बई से होता हुआ, दक्षिण भारत को प्रभावित करता है । जिस प्रकार बंगला क्षेत्र में नवजागरण, धार्मिकता लिये हुये था उसी प्रकार महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में भी नवजागरण धार्मिकता लिये हुये था । दूसरे शब्दों में अगर कहें तो महाराष्ट्र में भी नवजागरण की शुरूआत बंगला नवजागरण के बाद 1840 के आस-पास ही होती है । जिसकी आरम्भिक अवस्था में धर्म के तत्व भरे पड़े थे । महाराष्ट्र में सबसे पहले अपेक्षाकृत अल्प ख्यात परमहंस मंडली ने मूर्ति पूजा और जाति प्रथा के विरोध की शुरूआत की । ये विधवा विवाह का भी समर्थन करते थे । अगर हम बंगाल नवजागरण से इसे जोड़कर देखें तो इसमें जाति-प्रथा का विरोध एक नया तत्व था, मगर महाराष्ट्र में उसका स्वर तीखा और प्रमुखता का था । यह कोई छोटा परिवर्तन नहीं था । इससे रूढ़िग्रस्त जाति-व्यवस्था पर सीधी चोट पड़ी, जो आगे इतिहास में एक महान क्रांति के रूप में रेखांकित की गई ।

आगे चलकर आधुनिक विचारों के आलोक में हिन्दू धर्म की रूढ़ियों और सामाजिक जकड़बंदियों से मुक्ति के लिए 1867 में प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई । इसमें जातिगत विभेदों और रूढ़ियों पर चोट की गई । इसने दलितों, अछूतों और पीड़ित समाजों में बुनियादी सुधार करने की दिशा में अनेक सुधारवादी कार्यक्रमों की शुरूआत की । इसके लिए इस संस्था के अंतर्गत दलित जातिमंडल, समाज सेवा संघ जैसे संगठनों का निर्माण किया गया । इसमें डॉ. आत्माराम पांडुरंग जैसे अपने समय के ख्यातिलब्ध विद्वान् का नेतृत्व और योगदान शामिल था । इसमें महान् संस्कृत विद्वान आर.जी. भंडारकर और महादेव गोविन्द रानाडे जैसी महान् विभूतियाँ भी शामिल हुई । संयोग से ये दोनों सहपाठी भी थे । रानाडे ने विधवा पुनर्विवाह संघ और दक्कन शिक्षा सभा की भी स्थापना की । लेकिन विष्णुशास्त्री चिपलूणकर, गोपाल गणेश आगरकर, महादेव गोविन्द रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले, रमाबाई, रमाबाई रानाडे, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर और विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े सहित तमाम नवजागरण नायकों के कार्यों का आकलन करें तो प्राच्यवाद, बुद्धिवाद, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह सहित वे तमाम मुद्दे महाराष्ट्र नवजागरण में मिलेगे, जो बंगाल नवजागरण में उठे या उठाये गये । स्त्री-शिक्षा को लेकर रमाबाई और रमाबाई रानाडे के योगदान और प्रयत्नों से उसमें तेजी ही दिखती है ।

हम जिस 'हिन्दी नवजागरण' की बात करते हैं, उसका स्वरूप बंगाल, तमिल, महाराष्ट्र और अन्य प्रादेशिक नवजागरण की विशिष्टताओं से मिलकर बना है । इन नवजागरण के व्याख्याकार अपने-अपने जातीय सामाजिक जागरण को लेकर असहमति से पीड़ित हैं। और उसकी विशिष्टता से बाहर कुछ भी देखना नहीं चाहते परिणामतः इनकी आंतरिक सीमाओं का उद्घाटन भी संभव नहीं हो सका हैं "पिछले 50 सालों के नवजागरण विवाद में मुख्यतः उभरकर यह आया है कि बंगला नवजागरण का केन्द्रीय तत्व बुद्धिवाद है (राजाराम मोहन राय), जबकि हिन्दी नवजागरण का केन्द्रीय साहत्व राष्ट्रवाद है (1857 का पहला स्वाधीनता संग्राम) महाराष्ट्र नवजागरण का केन्द्रीय सारतत्व दलित चेतना (ज्योतिबा फूले) और सुधारवाद (रानाडे) है। तमिल नवजागरण का केन्द्रीय तत्व द्रविड़ चेतना है (नायकर-पेरियार) इसी तरह केरल नवजागरण का केन्द्रीय तत्व दलित चेतना (नारायण गुरू) हैं । नवजागरण की इन परम्पराओं में राष्ट्रीय आत्मपहचान के संघर्ष को पहचानते हुए स्थानीय 'थ्रस्ट' की अनदेखी एक भूल होगी ।"2 लेकिन इस स्थानीय थ्रस्ट को ही इन नवजागरणों की विशिष्टता के तौर पर प्रस्तावित करने पर इन नवजागरणों के प्रति सही समझ विकसित नहीं हो पाती । मसलन् बंगला नवजागरण की ही बात करें तो "19वीं सदी की शुरूआत में यूरोपीय नवजागरण ही बंगला नवजागरण का माॅडल बना हुआ था और 'बंगला नवजागरण' को ही भारत में नवजागरण का असली रूप समझा जाता था । बंगला नवजागरण के अधिकांश व्याख्याकार भारत में अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका देखते थे ।"3 बंगला नवजागरण के व्याख्याकारों पर औपनिवेशिक शिक्षा और प्राच्यविद्यावाद (आरियंटलिज्म) का इतना असर था कि "1857 तक का बंगला नवजागरण भारत के एक छोटे हिस्से और वर्ग में सामाजिक गतिशीलता लाकर भी वस्तुतः औपनिवेशिक उद्देश्यों को ही पूरा कर रहा था ।"4 उस बुद्धिवाद के भी दो रूप बंगला नवजागरण में देखने को मिलते हैं । एक जो अंग्रेजी राज की प्रगतिशीलता में विश्वास रखता था दूसरा जो इस प्राच्यविद्यावाद के खण्डन की प्रतिदृष्टि विकसित कर रहा था । दूसरी बात यह कि "जिस रहस्यवाद (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) को हिन्दी नवजागरण पर बंगला के प्रभाव के रूप में निरूपित किया जाता है, वह भी एक तरह से समूचे नवजागरण का अभिन्न अंग है ।"5

हम जानते हैं कि बुद्धिवाद और रहस्यवाद परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ है । दोनों 'बंगला नवजागरण' और हिन्दी नवजागरण (छायावाद) में समान रूप से अस्तित्वमान रही है, तो सिर्फ इसलिए कि बुद्धिवाद यूरोपीय नवजागरण की प्रमुख विशेषता है और रोल माॅडल यूरोपीय नवजागरण रहा है । इसलिए बुद्धिवाद को बंगला नवजागरण की प्रमुख विशेषता के तौर पर प्रस्तावित किया जा सकता है चाहे वास्तविकता कुछ भी हो ।

Scanned with CamScanner

"वास्तविकता यह है कि भावबोध और विचारबोध की दृष्टि से समूचा भारतीय नवजागरण एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है जिसमें बौद्धिकता के साथ भावुकता है, ऐतिहासिकता के साथ आकस्मिकता भी है और यथार्थवाद के साथ ही रहस्यवाद के तत्व घुले-मिले हैं। यूरोप के 'एनलाइटेनमेंट' अथवा 'ज्ञानोदय' दौर के विचारकों से प्रेरणा लेने के बावजूद भारत का उन्नीसवीं शताब्दी का नवजागरण नितांत बुद्धिवादी न हो सका, क्योंकि स्वयं यूरोपीय 'ज्ञानोदय' भी इतना इकहरा न था। अन्तर्विरोध इस नवजागरण की प्रक्रिया में भी थे और कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अनिवार्यतः नवजागरण की दुर्बलता नहीं बल्कि एक तरह से उसकी समृद्धि का सूचक है।"6

कहने की जरूरत नहीं कि 1857 का आन्दोलन असांप्रदयाकि था लेकिन यह आंदोलन भारतेन्दु युग तक आते-आते अपने असांप्रदायिक स्वरूप को बनाये नहीं रख सका। अंग्रेजी राज के मातहत अपने-अपने कौमों की तरक्की के लिए स्पष्ट विभाजन सांप्रदायिक आधार पर हुआ। हिन्दी नवजागरण के साथ हिन्दी जाति की अवधारणा भी जुड़ी हुई है। यहाँ जाति 'नेशन' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और इस जातीयता 'नेशनलिटी' के मूल में हिन्दू एवं मुसलमान के मध्य सांप्रदायिक विभाजन भी एक ऐतिहासिक सच्चाई है। वसुधा डालमिया (दी नेशनलाइजेशन आॅफ हिन्दू ट्रेडिशन, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एंड नाइनटींथ वनारस, ओ.यू.पी. 1997) और आलोक राय (हिन्दी नैशनलिज्म, 2001) ने इसी सांप्रदायिक आधार पर हिन्दी नवजागरण को 'हिन्दू नवजागरण में न्यूनीकृत करने की कोशिश है। हिन्दी साहित्य में इस मानसिकता का प्रचार-प्रसार वीर भारत तलवार कर रहे हैं। इनका कहना है कि "नागरी लिपि, हिन्दी भाषा और गौरक्षा - इन्हीं तीनो में 19वीं सदी के 'हिन्दी नवजागरण' के प्राण वसते थे।"7 इसी के समान प्रकृति के तर्क का इस्तेमाल 'हिन्दू नवजागरण के वरक्स 'मुस्लिम नवजागरण की छवि निर्मित करने के लिए की जा रही है। पाॅल ब्रास (लैंग्वेज रिलीजियन एंड पाॅलिटिक्स इन नार्थ इंडिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी) और फ्रांसिस रौविन्सन (इस्लाम एंड मुस्लिम हिस्ट्री इन साऊथ एशिया, 2001) ने अपनी उपर्युक्त पुस्तकों में 19वीं सदी में अलग मुस्लिम अस्मिता के निर्माण के कोशिशों और परिणामों की चर्चा की है। डाॅ० वीर भारत तलवार ने भी 'रस्साकशी' (2002) में भूमिका से लेकर वीच-वीच में कई जगहों पर 'मुस्लिम नवजागरण की वात कही है।"8

'हिन्दी नवजागरण' को 'हिन्दू नवजागरण' और 'मुस्लिम नवजागरण' में वांटकर देखनेवाली दृष्टि को एक ही झटके में खारिज नहीं किया जा सकता। 'हिन्दू नवजागरण' और 'मुस्लिम नवजागरण' की इन अवधारणाओं को हिन्दी नवजागरण से स्वतंत्र और स्वायत्त रूप में देखने की आवश्यकता नहीं है, वल्कि इन दोनों को 'हिन्दी नवजागरण' की अंतर्धारणाओं के रूप में देखने की जरूरत है। क्योंकि अपने 'स्वत्व', 'आत्म', 'अस्मिता', 'कुछ भी कह ले' के निर्माण के क्रम में यह (हिन्दू-मुस्लिम) जिस चेतना से लैस हो रहे थे, यह अंततः 'हिन्दी नवजागरण' की अवधारणा की ही पुष्टि करता है। हिन्दी नवजागरण का संवंध सिर्फ हिन्दी भाषा और हिन्दी जाति से नहीं हिन्दी प्रदेश से भी है और जव तक उनके निवासी (चाहे हिन्दू हो या मुसलमान) नवजागरण कालीन चेतना से प्रभाव ग्रहण कर रहे होते हैं तो एक दूसरे के प्रति द्वेष की भावना रखने के साथ-साथ अपने समुदाय के उत्थान के लिए भी उसी समय प्रयत्नशील रहते हैं। सामुदायिक स्पर्धा के इस भाव में इस वात का कहाँ खंडन होता है कि उस प्रदेश का और उसमें रहने वाली जाति का उत्थान नहीं होता है। इसलिए समुदाय और प्रदेश का विकास हिन्दी नवजागरण की अवधारणा को पुष्ट ही करता है।

हिन्दी नवजागरण पर 'वंगला नवजागरण' और 'मराठी नवजागरण' का प्रभाव स्वीकार लेने मात्र से 'हिन्दी नवजागरण' हेय नहीं हो जाता। इसका प्रभाव भारतेन्दु पर भी स्पष्ट देखा जा सकता है तभी तो वे अपने पहले नाटक का अनुवाद 'विद्यासुंदर' के रूप में बंगला नाटक का ही करते हैं। हिन्दी नवजागरण एवं भारतेन्दु पर बंगला और मराठी नवजागरण का प्रभाव मात्र है, यह उसका परिणाम नहीं है या अनुकरण करके विकसित नहीं है। प्रभाव ग्रहण करने की भी वजह यह है कि अंग्रेजी राज में कलकत्ता, मुंवई और मद्रास ये तीनों ही प्रेसीडेंसी बन चुकी थी, हिन्दी भाषी प्रदेशों में कोई वड़ा धर्म सुधारक या समाज सुधारक नहीं हुआ। जबकि बंगाल में ब्रह्मसमाज (राजा राममोहन राय) महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज (रानाडे) के अलावा देवेन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, विवेकाननद, केशवचंद्र सेन जैसे व्यक्ति हुए। महाराष्ट्र में तिलक तो मद्रास में थियोसेफिकल सोसाइटी की स्थापना हुई। जबकि हिन्दी क्षेत्र में धर्मसुधार और समाज सुधार का दायित्व भी हिन्दी साहित्यकार ही उठाये हुए थे। इसे भारतेन्दु के साथ जोड़कर देखा जा सकता है। भारतेन्दु भी स्त्री शिक्षा, वाल विवाह, अशिक्षा, अंधविश्वास, देश की दुर्दशा के खिलाफ जनता को आंदोलित कर रहे थे। भारतेन्दु के साहित्य रचना के साथ समाज सुधार जैसे कार्य करने की वजह "जितनी राजनीतिक परिस्थिति में है उतनी ही हिन्दी प्रदेश के विलम्बित नवजागरण में।"9

Scanned with CamScanner

Impact Factor : 2.314
ISSN : 2393-8358

वंगाल और महाराष्ट्र की तुलना में हिन्दी प्रदेश में अंग्रेजी शिक्षा वाद में आयी। कलकत्ता, मद्रास, और वम्वई में जहाँ 1857 में विश्वविद्यालय खुले, वहाँ हिन्दी प्रदेश का पहला विश्वविद्यालय - इलाहावाद विश्वविद्यालय भारतेन्दु के निधन के दो वर्ष बाद 1887 में खुला।

इसी प्रकार अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर वंगाल में पहले शिक्षित मध्यवर्ग का उदय हुआ, जिसका हिन्दी क्षेत्र में अभाव था। शिक्षा के कारण हिन्दी की तुलना में बंगला और मराठी गद्य का विकास चार-पाँच दशक पहले हो गया तो इसलिए कि वहाँ नवजागरण भी पहले हुआ। इसलिए हिन्दी में भी नवजागरण लाने के लिए भारतेन्दु गद्य के विकास पर अपना पूरा ध्यान केन्द्रित करते हैं। इसके लिए नाटक, उपन्यास, आलोचना, निबंध, यात्रा वृत्तांत आदि गद्य विधाओं में मौलिक लेखन एवं अनुवाद दोनो करने पर बल देते हैं तथा अपने मंडली के लोगों को इसके लिए प्रेरित भी करते हैं।

'हिन्दी नवजागरण' के इन विविध आयामों की पड़ताल के वाद 'हिन्दी नवजागरण' की कुछ स्वरूपगत विशेषताएं उभर कर सामने आती हैं। अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन ने भारतीयों को केवल भौतिक या राजनीतिक स्तर पर पराधीन नहीं किया था, बल्कि एक मानसिक गुलामी का भी तंत्र इस तरह विकसित किया था कि भारत वर्ष के इतने वर्षो की पराधीनता का कारण भारतीयों का दुर्वल, कापुरूष और निर्बल होना है। उनकी श्वेतजनों पर बोझ की अवधारणा, लार्ड मैकाले का कथन कि भारत का सारा ज्ञान यूरोप की एक अच्छी लाइब्रेरी के एक शेल्फ में रखी किताबों में समा जाये या फिर जेम्स मिल के इतिहास लेखन का यह उद्देश्य कि अंग्रेजी शासन ने "भारत को न सिर्फ मुसलमानों के साम्प्रदायिक शासन से मुक्ति दिलायी बल्कि शांति एवं धार्मिक सहिष्णुता के युग का सूत्रपात भी किया।"10 मूल रूप से यह सांस्कृतिकवर्चस्व के उस अभियान का हिस्सा था, जो भारतीयों पर मानसिक गुलामी थोपने का सुचिंतित और सचेत प्रयास कर रहा था।

भारत में होने वाले वंगला नवजागरण, मराठी नवजागरण, हिन्दी नवजागरण अपने-अपने स्तर से इस सोच का खंडन करते हुए विकसित हुए थे। भारतेन्दु के साहित्यिक लेखन के केन्द्र मे भी यह वात कहीं न कहीं थी। वे वार-वार भारत के जागरण पर बल देते हैं। हिन्दी नवजागरण के काल में हिन्दी के लेखकों के लिए यह समस्या 'आत्म पहचान' की समस्या वन गयी। 'आत्म पहचान' की समस्या मे कला, साहित्य, संस्कृति, इतिहास, राजनीति, धर्म हर क्षेत्र में अनउपनिवेशन की प्रक्रिया आरंभ हुई। गौरतलव है कि "13 फरवरी 1879 को दुर्गाशंकर मिश्र ने कलयत्ता से 'सारसुधा निधि' का प्रकाशन शुरू किया। उन्होंने इस मामले को उठाया "विधा तो अंग्रेजी ही है, हम लोगों का क्या है ? कुछ भी नहीं और जो कुछ भी है सो केवल पाखड मात्र है यह भ्रम दूर करना था।" ऐसा ही कार्य भारतेन्दु अपने पत्रिकाओं 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' एवं 'कविवचन सुधा' के माध्यम से कर रहे थे। अतः कहा जा सकता है कि "प्राचीन और नवीन मतों की विचारपूर्वक मीमांसा ही नवजागरण का वुनियादी तत्व है।"11 और भारतेन्दु इसे हर जगह से ग्रहण कर रहे थे, चाहे वह वंगला नवजागरण से हो या फिर मराठी नवजागरण से।

संदर्भः-

1. शंभुनाथ - हिन्दी नवजागरण की अवधारणा सन्देह के वावजूद, आलोचना, सहस्त्राव्दी अंक - 5, अप्रैल - जून, 2001, पृ० - 51
2. वही, पृ० - 51-52
3. वही, पृ० - 59
4. वही, पृ० - 61
5. नामवर सिंह - हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, नामवर संचयिता - नंदकिशोर नवल (संपादक), राजकमल प्रकाशन, 2003, पृ० - 408
6. वही, पृ० - 408
7. वीर भारत तलवार - रस्साकसी, पृष्ठ 55
8. वही, भूमिका
9. नामवर सिंह- हिन्दीनवजागरण कीसमस्याएँ, 2003, पृ०-408
10. मुवारक अली - इतिहासकार का मतान्तर (अनुवादक-प्रेम कपूर), राजकमल प्रकाशन, 2002, पृ० - 19
11. शंभुनाथ - आधुनिक पुनर्जागरण की प्रस्तावना, समकालीन सृजन अंक - 31 2002, पृ० - 5

Scanned with CamScanner

UGC Approved Journal No. 49321
Shodh Drishti (An International Peer Reviewed Refereed Research Journal), Vol. 11, No. 4.1, April, 2020
Impact Factor : 5.427
ISSN : 0976-6650

हिन्दी नवजागरण और भारतेन्दु की नाट्य दृष्टि

डॉ. अभिषेक कुमार पटेल
सहायक प्राध्यापक, शासकीय शहीद कौशल यादव महाविद्यालय, गुण्डरदेही , छत्तीसगढ़

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने मौलिक नाटक, मौलिक अधूरे नाटक, अनुवादित नाटक, अनुवादित अधूरे नाटक, संशोधित नाटक, संवाद, छायाचित्र और विविध लेखन के रूप में 1868 से 1885 के बीच लगभग, पच्चीस-तीस नाट्य रचनाएँ, आधुनिक हिन्दी रंगमंच की आधारशीला के रूप में प्रस्तुत की है। तो उसी के साथ नाट्यकला के सिद्धान्त-विवेचन को लेकर नाटक अथवा दृश्य-काव्य-विवेचन शीर्षक से 1880-81 के लगभग पचास पृष्ठों का एक लम्बा निबंध भी लिखा। यह निबंध उनके पूरे रचनाक्रम का निचोड़ तो है ही इसके साथ ही भारतेन्दु से पहले के समस्त भारतीय रंग-चिन्तन का भी आधुनिक हिन्दी रंगमंच की दृष्टि से पहला गंभीर आकलन है। भारतेन्दु को अपने निबन्ध के लिए मुख्य रूप से दशरूपक, भारतीय नाट्यशास्त्र, साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, विल्संस हिन्दू थिएटर्स, लाइफ आॅफ दि एमिनेंट परसंस, ड्रामेटिस्टस एंड नावेलिस्ट्स हिस्ट्री दि इटालिक थिएटर्स और आर्य दर्शन से उन्हें प्रेरणा मिली जिसका उल्लेख उन्होंने इसकी भूमिका में किया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदय रिनेसां या पुनरूत्थान काल के प्रथम चरण में हुआ। नवजागरण की ऐतिहासिक शक्तियों के संघात से उत्पन्न नवचेतना के परिप्रेक्ष्य में ही भारतेन्दु की नाट्यदृष्टि और रंग दृष्टि का अध्ययन इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि यही वह धरातल है जहाँ उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में जुड़े अंतर्विरोध के साथ न्याय किया जा सकता है।

भारत के नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ई.पू. चैथी शताब्दी से चैथी ईस्वी के बीच माना जाता रहा है। नाट्यशास्त्र को आधार बनाकर अभिनव-भारती, दशरूपक, अभिनय-दर्पण, साहित्यदर्पण, ध्वन्यालोक इत्यादि जितने भी शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना हुई ने सब मूलतः संस्कृत भाषा के थे। पहली बार 1883 में भारतेन्दु ने 'नाटक अथवा दृश्य काव्य-सिद्धान्त विवेचन' शीर्षक से संस्कृत से अलग हिन्दी भाषा में इतना लम्बा निबंध लिखा। यह निबन्ध उनके समस्त रचनात्मक लेखन के बाद लिखी गई सैद्धान्तिक कृति है। अर्थात् कम-से-कम पन्द्रह-बीस वर्ष तक लगातार नाटकों को लिखने, उनमें अभिनय करने, उनका निर्देशन करने, पूरे देष में होने वाली नाट्य गतिविधियों को साक्षात् इस निबन्ध का प्रणयन हुआ है।

यही पर थोड़ा रूककर एक और तथ्य का भी उल्लेख कर लिया जाए और वह यह है कि भरत के बाद भारतेन्दु ही पहले ऐसे व्यक्ति के रूप में सामने आते हैं जो स्वयं ही सिद्धान्तकार भी हों, रचनाकार भी हों, और प्रयोक्ता भी हों। यहाँ तक कि पश्चिम में भी इस तरह के त्रिआयामी व्यक्तित्ववाला व्यक्ति बहुत वर्षों के बाद ब्रेख्त के रूप में पैदा होता है। स्तानिस्लावस्की भी मात्र प्रयोक्ता और सिद्धान्तकार थे। भारतेन्दु का महत्व एक अर्थ में भरत से भी ज्यादा आँका जा सकता है और वह इस तरह से कि स्वयं भरत ने तो किसी नाटक की रचना नहीं की। दूसरे अपने समय में अपने नाटकों का प्रयोग भी किया होगा इस विषय में भी भरत का 'नाट्यशास्त्र' कोई संकेत नहीं देता। इसके विपरीत भारतेन्दु न केवल एक शास्त्र की रचना करते हैं वरन उस शास्त्र में विवेचित सिद्धान्तों के आधार पर नाटकों के प्रयोग कैसे किए जाऐं, इसकी भी बार-बार चर्चा करते है। आज के भारतीय रंगमंच में जिस प्रकार से प्राचीन और आधुनिक, पूर्वी और पश्चिमी नाट्य परम्पराओं और रंग-शैलियों के आपसी मेल जोल से जिस ताजे भारतीय रंगमंच की खोज का काम पूरे जोर-शोर से किया जा रहा है, उसकी ठोस जमीन भारतेन्दु अपने निबन्ध के माध्यम से 130 वर्ष पूर्व ही तैयार कर देते है।

भारतेन्दु ने मात्र पच्चीस पृष्ठों की मुद्रित सामग्री में जिस संक्षिप्तता के साथ बहुविध सामग्री का विवेचन किया है, वह देखते ही बनता है। उदाहरण के लिए नाटक अथवा दृश्यकाव्य की परिभाषा, दशरूपक, उपरूपक, पाश्चात्य एवं भारतीय नाटक, नाटक-रचना, मंच-विधान, अभिनय, रस-सिद्धान्त और नाटकों का संक्षिप्त इतिहास अर्थात कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो नाटक के सिद्धान्त और उसके प्रयोग पक्ष से अछूता रहा हो। नाटक अथवा दृश्यकाव्य की दृष्टि से नाटक के दो भेद, दृश्य और श्रव्य की अवधारणा का जन्म सबसे पहले भारतेन्दु के यहाँ मिलता है। ध्यान रहे, तब तक ध्वनि अथवा रेडियो जैसे श्रव्य माध्यम का जन्म भी नहीं हुआ था। भारतेन्दु दृश्य -श्रव्य इन दो शब्दों की मात्र स्थापना ही नहीं करते बल्कि 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के एक ही उदाहरण से दोनों भेदों को बखूबी स्पष्ट करते हैं। उदाहरण स्वरूप 'शाकुन्तला' में भ्रमर के आने पर

Scanned with CamScanner

शकुन्तला की सुधि, चितवन से कटाक्षों का फेरना आदि जो वर्णन है उसे देखने पर दृश्य-काव्य का और यही वर्णन सुनने पर श्रव्य काव्य का आनन्द प्राप्त होता है।

उसी तरह से नाटक को साहित्य के रूप में न लेते हुए उसकी अर्थग्राहिता को रंगस्थ खेल के अन्तर्गत ही विश्लेषित करते हैं। प्राचीन समय में अभिनय के सन्दर्भ में नाटक, नृत्य, नृत्त, तांडव और लास्य इन पाँच शब्दों की व्याख्या करने के पश्चात केवल नाट्य को नाटक के साथ जोड़कर देखने की दृष्टि नितान्त आधुनिक और मौलिक सोच-विचार का परिणाम है। प्रायः आज रंगमंच में गीत, संगीत और नृत्य को नाटक और रंगमंच का अनिवार्य अंग मान लिया जाता है। लेकिन जब हम भरत के नाट्यशास्त्र को और उसके बाद भारतेन्दु की इन रचनाओं को उदाहरण के रूप में लेते हैं तो यह अवधारणा स्वयं ही खंडित हो जाती है नाट्य के अतिरिक्त बाकी चार भेदों को भारतेन्दु ने भी नाचने वालों के लिए छोड़ दिया है। भारतेन्दु से पूर्व भरत ने भी नाटक में इन तत्वों का समावेश शिव के कहने पर ही किया था। अतः रंगमंच अपने-आपमें एक पूर्ण, मौलिक और शुद्ध कला है, यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है। गीत, संगीत और नृत्य उसके सहायक तत्व भले ही हो जाएं, वे उसके अनिवार्य तत्व नहीं हैं। क्या आज हमारे अपने समय में फिल्म को लेकर उसकी अपनी रंगमंच से अलग एक मौलिक भाषा और व्याकरण की दिशा में सोच-विचार नहीं हो रहा है ?

भारतेन्दु ने नाटकों को दो श्रेणियों में विभक्त किया है- प्राचीन और नवीन। प्राचीन में भी नाट्य के रूपक और उपरूपक दो भेद किए गए हैं। यह विभाजन भरत के नाट्यशास्त्र में भी उपलध है। पहले वह रूपक के दस भेद, यथा-नाटक प्रकरण, भान-व्यायोग, सवाकाट, डिम्ब, इहावृक्ष, अंक, वीथि और प्रहसन की व्याख्या करते हैं और इसके बाद उपरूपक के अन्तर्गत नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक प्रस्थान, उल्लास, काव्य, प्रेखण, रासक संलापक, श्रीदित (श्रीरासिका), शिल्पक, विलासिका, दुर्भाल्लिका, प्रकसीका, दृल्लीश और भाणिका का विवेचन करते है।

इसी तरह नवीन भेद के अंतर्गत उन्होंने यूरोप के नायिकों की छाया पर लिखे जाने वाले नाटकों का उल्लेख किया हैं, जिसकी शुरूआत उस समय बंगाल में हो चुकी थी। भारतेन्दु के अनुसार- "प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक अंक में अनेक-अनेक गर्थाकों की कल्पना की जाती है। क्योंकि इस समय में नाटक के खेलों के साथ विविध दृश्यों का ज्ञान भी आवश्यक समझा गया है। इस अंक और गर्भाकों की कल्पना यों होनी चाहिए, यथा पाँच वर्ष के एक आख्यान का नाटक है तो उसमें वर्ष-वर्ष के इतिहास के एक-एक अंक और उस अंक के अंतःपाती विशेष-विशेष समयों के वर्ण का एक-एक गंर्भक। अथवा पाँच मुख्य घटना विशिष्ट कोई नाटक है तो प्रत्येक घटना के सम्पूर्ण वर्णन का एक-एक अंक और भिन्न-भिन्न स्थानों में विशेष घटनान्तः पाती छोटी-छोटी घटनाओं के वर्णन में एक-एक गर्भाक। ये नवीन नाटक मुख्यतः दो भेदों में बंटे हैं- एक नाटक, दूसरा गीतिरूपक। जिनमें कथा भाग विशेष और गीति न्यून है। वह नाटक और जिसमें गीति विशेष हों वह गीतिरूपक। यह दोनों कथाओं के स्वभाव से अनेक प्रकार के हो जाते हैं किन्तु उनके मुख्य भेद इतने किए जा सकते हैं यथा- 1. संयोगान्त अर्थात् प्राचीन नाटकों की भाँति जिसकी कथा संयोग पर समाप्त हो, 2. वियोगान्त-जिसकी कथा अन्त में नायिका नायक के मरण व और किसी आपद घटना पर समाप्त हो। (उदाहरण-रणधीर प्रेममोहिनी'), 3. मिश्र-अर्थात् जिसके अन्त में कुछ लोगों का तो प्राप्वियोग हो और कुछ सुख पावें।"

दशरूपक, उपरूपक, नया नाटक, प्राचीन नाटक, कोई भी विषय-विवेचन क्यों न हो, भारतेनदु ने हर परिभाषा को उसके उदाहरण से भी पुष्ट किया है। 'नाटक' निबंध में भारतेन्दु के तीन निष्कर्ष बहुत ही सार्थक दिखाई देते हैं। "एक तो यह कि आज न तो यह जरूरी है कि किसी नाटक की रचना में प्राचीन रीति का पूरी तरह से परित्याग कर दिया जाए और न ही इस बात की कोई गारंटी है कि जो कुछ आधुनिक है उसे दर्शक पूरी तरह से स्वीकार ही कर लेगी। इससे मिलता-जुलता मत कालिदास जैसे नाटककार ने भी अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्रम' में व्यक्त किया है दूसरे; आज के नाटक में अस्वाभाविक लगने वाला सामग्री को बिल्कुल भी प्रस्तुत न किया जाए और अलौकिक विषयों को आधार न बनाया जाए तो ज्यादा अच्छा होगा। तीसरे और सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष के रूप में यह विचार कि संस्कृत नाटकों में उपलब्ध नाट्यालंकार, पंच सन्धि, प्रकरी अथवा ऐसे ही अन्य तत्वों की हिन्दी नाटकों की रचना में कोई आवश्यकता नहीं है।"1 कुल मिलाकर नए और पुराने के प्रयोग को लेकर भारतेन्दु के समन्वयवादी और सर्वग्राही दृष्टिकोण का पता चलता है।

नाटक साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु युग एक ऐसा अपवादकाल है जिसमें नाटककार और रंगकर्मी, नाटक और रंगमंच के इतने सीधे संबंध रहे हों। ऐसी रंगचेतना की परिणति जिन निष्कर्षों पर पहुँचती है वही भारतेन्दु के नाट्यादर्श हैं। भारतेन्दु ने नाटक अथवा दृश्यकाव्य निबंध में नाटक के निम्न उद्देश्य नियत किये: (क) हास्य, (ख) शृंगार, (ग) कौतुक, (घ)

Scanned with CamScanner

समाज संस्कार, (ड) देशवत्सलता। पहले भाग में हास्य, शंृगार और कौतुक आते हैं और दूसरे में समाज संस्कार तथा देशवत्सलता। पहले में 'दिल्लगी' मुख्य तथा 'शिक्षा' गौण और दूसरे में 'शिक्षा' मुख्य तथा दिल्लगी' गौण है। इनमें से चार आदर्शों- हास्य, कौतुक, समाज संस्कार, देशवत्सलता का सीधा संबंध सामसामायिक परिस्थितियों से हैं। चारों तरफ हो रहे पुनरूत्थान के दौर से नाटक के पुनरूत्थान को जोड़ना ही भारतेन्दु की ऐतिहासिक सूझबूझ का परिचायक है।

हिन्दी नाट्यसृजन के आरंभिक युग की रंग-चेतना कई अलग-अलग स्तरों पर, एक दूसरे से कहीं असंपृक्त तो कहीं अनायास ही प्रभावित हो विकसित होती रही।

1. पारसी रंगमंच: जो पश्चिम की पतनशील विक्टोरियन नाट्य-परम्परा का ही विकासमान अंश था। यह अति नाटकीय मेलाड्रामेटिक अति रंजनापूर्ण नाट्य शैली में थी।

2. लीला मंच: यह मध्ययुग से ही चली आ रही 'रामलीला' और 'रासलीला' की रंग-परम्परा है, यह धार्मिक रंगमंच है जिसका स्वरूप मुख्यतः गीत-नृत्यपूर्ण है । जिसमें संस्कृत रंगमंच तथा लोक-नाट्य-परम्परा की रूढ़ियों का विकास हुआ है। भारतेन्दु ने चन्द्रावली नाटिका में लीला मंच को आधार बनाकर नाटकीय प्रयोग किया है। भारतेन्दु ने 'रास' को भ्रष्ट' माना था।2 इसी से उस परम्परा का संस्कार कर उसे 'संस्कृत नाटिका' नाम दिया।

3. लोक मंच: भाड़ नौटंकी, स्वांग आदि परम्पराएं सुरूचि-सम्पन्न नहीं थी। भारतेन्दु ने अपने नाटक निबंध में 'भांड को 'भ्रष्ट' कहा है कि इसमें नाटकत्व दोष नहीं रहा।' लेकिन आम जनता का मनोरंजन करने के लिए लोक में ये नाट्य शैलियां लोकप्रिय थी और भारतेन्दु भी उनकी रंगमंचीय शक्ति के प्रति सजग थे। तभी 'अंधेर नगरी' में लोक परम्परा की तलाश का प्रमाण मिलता है।

4. संस्कृत रंगमंच: संस्कृत नाटकों के अनुवाद-परम्परा में संस्कृत का केवल 'नाटक' ही अनुदित होता था, 'रंगमंच' गायब हो जाता था। भारतेन्दु ने काफी हद तक संस्कृत रंगमंच को उसकी समग्रता में पहचानने की कोशिश की थी क्योंकि वे खुद भी जीवित रंगमंच से जुड़े थे। आलोचक ज्यादातर भारतेन्दु में जब संस्कृत रंगमंच खोजते हैं तो कार्यावस्थाओं और संधियों या फिर ज्यादा से ज्यादा भरत-वाक्य या नांदी के नियोजन तक ही बात रह जाती है। देखना हमें यह है कि संस्कृत नाट्य का आंतरिक संगठन, उसका काव्यमय वातावरण कहा तक भारतेन्दु के नाटकों में प्रश्रय पा सका। इस मृत रंगमंच को भारतेन्दु ने कहाँ तक जीवित करने में सफलता प्राप्त की।

5. बंगला (पाश्चात्य) रंगमंच: प्रसाद तक के सभी हिन्दी नाटककारों ने पाश्चात्य रंगमंच को मुख्यतः बंगला या पारसी रंगमंच के माध्यम से ही जाना है। यह बात नहीं कि भारतेन्दु ने अंग्रेजी नाटक पढ़े नहीं होंगे लेकिन शेक्सपियर की नाट्य-शैली की पूरी पहचान हिन्दी नाट्यकारों को डी.एल. राय के नाटकों से हुई जो मुख्यतः रोमाटिक और ऐतिहासिक त्रासदियों और रूपविधान शेक्सपियर के नाटकों से मिलता-जुलाता था। पारसी-बांगला रंगमंच के पाश्चात्य प्रभावों में अंतर यह था कि बंगला रंगमंच शेक्सपियर के काव्य तत्व, आंतरिक संघर्ष जैसे साहित्यिक तत्वों को उसके रूप-विधान के साथ अपना रहा था वहां पारसी रंगमंचकार शेक्सपियर के नाटकों को मनमाने ढंग से अनूदित कर उनका अतिशयोक्तिपूर्ण भद्दे ढंग से प्रस्तुतीकरण कर रहे थे और उनका लक्ष्य मुख्यतः उन मारधाड़ के दृश्यों को प्रस्तुत करना था। भारतेन्दु ने अपने 'नाट्य' में पाश्चात्य रंगमंच के प्रभाव बंगला रंगमंच से ही मुख्यतः ग्रहण किए है। पारसी रंगमंच के प्रति उनके मन में भी बेहद आक्रोश था लेकिन वे उसके प्रभाव से बचे नहीं। भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा', 'नील देवी' आदि मौलिक नाटकों में बंगला के माध्यम से ही पाश्चात्य नाट्यतत्व आए हैं। अनूदित नाट्य 'दुर्लभ बंधु' शेक्सपियर के बंगला नाट्यानुवाद से प्रेरित है।

भारतेन्दु के अविर्भाव के समय ये पाँचों रंग-परम्पराएं एक साथ लेकिन एक-दूसरे से अलग, कटी हुई विकसित हो रही थी। इनमें से पासरी रंगमंच सबसे अधिक विकासशील और लोकप्रिय था। भारतेन्दु ने बनारस में पारसी कम्पनी द्वारा प्रस्तुत शकुन्तला नाटक के अभिनय के बारे में लिखा है- "काशी में पारसी नाटक कारों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटककर नाचने और पतरी कमर बल खाये' यह मानने लगा तो डाक्टर थिबो बाबू प्रेमदास प्रभृति विद्वान यह कहकर उठ आये कि कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे है।"3 लेकिन भारतेन्दु पारसी रंगमंच के प्रभाव से स्वयं बच नहीं पाये। उनके नाटकों में जगह-जगह शेरों और ग़ज़लों का समावेश, अतिरंजित भावावेश (मूर्च्छित होना, आत्महत्या) तथा 'नील देवी' जैसे प्रमुख नाटक की रंग-परिकल्पना में परदे वाले पारसी रंगमंच की उपस्थिति आदि अनेक पारसी रंगमंच के तत्व खोजे जा सकते हैं।

Scanned with CamScanner

डॉ. सत्येन्द्र तनेजा ने वंगला नाटकों के प्रभाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है - "शिल्प विधान की दृष्टि से भी भारतेन्दु पर वंगला नाटक साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। पश्चिमी नाटकों से विशेष रूप से अनुप्रेरित तथा अनुप्रमाणित होने के कारण वंगला-नाटकों की टैकनीक में बड़ा परिवर्तन आया। वहाँ का प्रथम नाटक, जि0सी0गुप्त का कीर्ति-विलास भारतीय नाट्यशास्त्र के विरूद्ध एक वियोगांत कृति है तथा उस युग के सर्वश्रेष्ठ नाटककार माइकेल मधुसूदन दत्त तो असाधारण रूप से पश्चिमी नाट्य-शास्त्र से अनुप्रमाणित थे"4 अतः भारतेन्दु की दृष्टि में नवीन नाट्य विधान से अभिहित परिवर्तन वस्तुतः वंगला नाटक साहित्य से आए। दूसरे शब्दों में, हिन्दी नाटक शैली में जो भी 'नवीनता' आई उसकी मूलभूत प्रेरणा वंगला नाटक से ही प्राप्त हुई।

भारतेन्दु के वारे में विद्वान एकमत हैं कि उन्होंने रचना कौशल की दृष्टि से मध्यम मार्ग अपनाया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "न तो बंगला के नाटकों की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एक बारगी छोड़ वे अंग्रेजी नाटकों की नकल पर चले और न प्राचीन नाट्यशास्त्र की जटिलता में अपने को फंसाया।"5 व्रजरत्नदास, डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डॉ. वीरेन्द्र कुमार शुक्ल आदि आलोचकों की भी यही राय है। डॉ. रामविलास शर्मा ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों के वारे में लिखा है- "यह वाक्य उस दिशा की तरफ संकेत करता है, जिसमें भारतेन्दु हिन्दी नाटकों का विकास कर रहे थे और अपने अंतिम वर्षों में चाहते थे कि विकास हो। नाटक खेलने से लोगों को वर्तमान समय का ठीक नमूना दिखाई पड़ना चाहिए। दूसरे शब्दों में, उसकी विषयवस्तु यथार्थवादी होनी चाहिए। साथ ही उसकी रचना में पुरानी रीति के अंधानुकरण के वदले उसमें आवश्यक हेर-फेर भी करना चाहिए। इस तरह नाटक का जातीय रूप विकसित होगा। साहित्य के अन्य अंगों की तरह भारतेन्दु नाटकों में भी यथार्थवाद के जन्मदाता हैं और उनके लोकप्रिय जातीय रूप को सँवारने वाले है।"6 नाटक भारतेन्दु के समय में पुरस्थापन अर्थात् जनजीवन में वदलाव की प्रक्रिया का जरिया वना। सन् 1871 में श्रीनिवास दास कृत 'रणधीरप्रेम मोहिनी' के प्रथम प्रदर्शन के अवसर पर लिखी प्रस्तावना में भारतेन्दु ने इसी विचार दृष्टि का प्रवर्तन किया - "सचमुच नाटक के प्रचार से इस भूमि का वहुत कुछ भला हो सकता है - दिल्लगी से इन लोगों को जैसी शिक्षा दी जा सकती है वैसी और तरह से नहीं।" इसी विचार क्रम में उन्होंने 'नाटक' नामक निवंध में लिखा: 'हे नाटकविरोधी मानवगण ! आप लोग इस चमत्कार कार्य में क्यों उत्साह नहीं वढ़ाते... अव यही हमारी प्रार्थना है कि जहाँ तक हो सके इसकी उन्नति में प्रयत्न करें जिससे हमारे इस देशवासियों का उपकार हो।'7 वस्तुतः भारतेन्दु नाटक की जनजागरण की अनंत संभावनाओं से भली-भाँति परिचित थे। डॉ. सत्येन्द्र तनेजा ने तत्कालीन अन्य नाटककारों की रंगदृष्टि को स्पष्ट करते हुए उनके उददेश्यों को रेखांकित किया है - "पं0 वालकृष्ण भट्ट का विश्वास रहा कि नाटक में 'केवल क्षणिक मनोरंजकता ही नहीं किंतु देशोन्नति विषय पर कुछ उपदेश भी होने चाहिए।' पर पं0 वदरी नारायण चैधरी 'प्रेमघन' का आग्रह है कि सभी वंधु इस (नाटक) के 'उन्नति की अभिलाषा से वद्ध परिकर हो, इसके उद्योग में प्रवृत्त हों, ईश्वर इस विद्या में इस देश को फिर उन्नत कर इस देश की उन्नति कर इस देश की उन्नति करें। इसी अनुक्रम में किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने नाटक 'नाट्य संभव' की भूमिका में घोषित किया: 'नाटक से वढ़कर ऐसा दूसरा उपाय नहीं है जिससे सर्व साधारण की सामाजिक दशा का वर्तमान चित्र दिखाकर उसका पूरा-पूरा सुधार किया जाए।' पं0 अंविकादत्त व्यास ने अपने नाटक 'गो-संकट' की प्रस्तावना में नाटक के तीन लक्ष्य माने: ' क्षणिक मनोरंजन, देशोन्नति और धार्मिक उपदेश' तो काशीनाथ खत्री ने 'मनवहलाव के संग उपदेष' पर वल दिया।"8 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से अनुप्रेरित होकर इस युग के नाटककार के लिए नाटक एक ऐसा मंच वन गया था जिसके माध्यम से मनोरंजन से कहीं वढ़कर परिवर्तन, सुधार तथा नवजागरण लाया जा सके। इस तरह पुनरूत्थान के लक्ष्य अव नाटक के लक्ष्य हो गए। इस प्रतिवद्धता को एक नया आयाम इस अनुभव से मिला ठिकइस युग का नाटककार अपनी रचना के संपूर्ण साक्षात्कार के लिए एक सक्रिय रंगकर्मी, प्रस्तुतकर्ता तथा कुशल अभिनेता भी था।

भारतेन्दु हरिष्चन्द्र की रंगदृष्टि में लोकधर्मी चेतना है। भारतेन्दु ने लोकधर्मिता की प्रवृत्तियों और शक्तियों का अपने मौलिक नाटकों में सदुपयोग किया है। नाट्यसंरचना में खुलापन, ताजगी, जीवंतता जैसी विशेषताओं के लिए उन्होंने ऐसे नाट्यरूप अपनाए जिनका स्वरूप लोकधर्मिता के निकट है। उदाहरण के लिए उनके 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अंधेर नगरी' प्रहसन है। 'विषयस्य निषमौषधम', 'भारत दुर्दशा' तथा 'चन्द्रावली' नाटिका है। 'नीलदेवी' को रीतिरूपक कहा जाता,

Scanned with CamScanner

परन्तु उसका आकार-प्रकार छोटा है। यह अनजाने ही नहीं हुआ यह भारतेन्दु की सामाजिक प्रतिबद्धता का परिणाम था।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों में समसामयिक प्रश्नों को उठाया अवश्य है परन्तु दिल्लगी का निर्वाह करते हुए यदि 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में धार्मिक वितंडावाद और मिथ्याचार का पर्दाफाश हास्य-व्यंग्य शैली में हुआ है तो 'अंधेर नगरी' की अंधेरगर्दी को कहीं उसके बाजार में 'टके सेर भाजी टके सेर खाजा' से दिखाया है और कहीं राजा की हास्यास्पद स्थितियों से।

इनके अलग-अलग नाटकों में अलग-अलग रंगशैलियों के दर्शन होते है। 'भारत दुर्दशा', संस्कृत-पारसी और बांगला-नाट्य शैली का मिश्रित रूप दिखता है तो 'चन्द्रावली' में रासलीला की रंगशैली झलकती है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में संस्कृत प्रहसन का रूप-विन्यास है तो 'अंधेर नगरी' में लोक-नाट्य शैली के दर्शन होते है। भारतेन्दु के सभी मौलिक नाटक रंगमंच के किसी न किसी नये रूप की तलाश में है। इसी से भारतेन्दु सभी प्रचलित रंगशैलियों के माध्यम से अपनी खोज करते रहे। इस दृष्टि से भारतेनदु का प्रत्येक मौलिक नाटक अपने में एक प्रयोग है और हिन्दी को एक नया नाट्य रूप देने का प्रयास करता है। 'नीलदेवी' में नौटंकी का परिष्कृत रूप मिलता है जिसमें पारसी रंगतत्व भी सहज घुल गया है तो 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' समाज के ढोगी धर्म-प्रणाली पर तीखाी चोट करता हुआ व्यंग्य नाटक है। 'चन्द्रावली' में रासलीला की शैली में नृत्यगीतमय नाटिका प्रस्तुत की है और 'सत्य हरिश्चन्द्र में पारसी रंगमंच शैली में परिष्कृत नाट्य प्रयोग किया है।

भारतेन्दु की रंगशैली की सबसे बड़ी विशेषता तो यही है कि वह एक साहित्यिक शैली या मुहावरा नहीं है वरन पूरी तरह से रंगमंचीयता से संबद्ध है। नाटक के आरम्भ में ही एक गीत या प्रार्थना या मंगलाचरण का इस्तेमाल। भले ही यह उक्ति कोई नई नहीं थी और रंगमंच के आरंभ से ही चली आ रही थी; लेकिन फिर भी इसके इस्तेमाल से कैसे एकदम से दर्शकों को काबू में किया जा सकता है, यह भारतेन्दु ने बहुत अच्छी तरह से जान-समझ लिया था। इसकी प्रेरणा उन्हें भले ही संस्कृत नाटकों से मिली हो, लेकिन अहम बात यह है कि उन्होंने इन सभी परम्पराओं को मिलाकर अपने नाटकों का जो मुहावरा तैयार किया वह कई तरह से अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करता है। डा॰0 सत्येन्द्र तनेजा ने भारतेन्दु के रंगचिंतन पर ठीक ही लिखा है कि - "उसमें शास्त्रीय रंगमंच जैसा दुरूहता और क्लिष्टता बिल्कुल भी नहीं है, न ही पारसी रंगमंच जैसा फूहड़पन है और न ही लोक-रंगमंच जैसा खुलापन है। यदि सही मायनों में कहा जाए तो उनकी शैली एक सहजता और स्वाभाविकता लिऐ हुए है।"9 यह अकारण नहीं है कि परवर्ती नाटककार जयशंकर प्रसाद ने भारतीय रंगमंच में यथार्थवाद को लाने का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को दिया है।

भारतेन्दु के मन में कोई पूर्वाग्रह नहीं था कि उनके पात्र धीरोदात्त ही हों। इसके विररीत समस्या के अनुरूप उसका सृजन किया गया। इसीलिए जहाँ पहले नायक उच्च कुल तथा राजवंश आदि से संबंधित होता था वहाँ अब विवेकहीन एवं पाखंडी राजा, अत्याचारी एवं निष्ठुर अब्दुल शरीफ खाँ, धनदास तथा बनितादास जैसे धूर्त एवं नीच मिल जाते हैं। इस दृष्टि से भारतेन्दु मानवतावाद का स्पर्श देने वाले पहले नाटककार हैं। उन्होंने रंगमंच के द्वार को प्रत्येक के लिए खोल दिया। इसमें नाटक जीवन के और समीप आ गया। मानवोचित गुण-दोष से युक्त भारतेनदु के पात्र एक नवीन नाट्य परंपरा का शिलान्यास करते है।

'रस' के बारे में उन्हे विशेष चिंता दिखाई नहीं देती कि शंृगार, वीर या शांत रस का पूर्ण परिपाक हो। वे कथा के भावात्मक पक्ष तथा लक्ष्य की ओर अधिक प्रयत्नशील रहे हैं वास्तव में समस्या के निर्वाचन के ही दृष्टिकोण में अंतर आ जाता है। जीवन की जटिल समस्याओं को लाने से नाटककार का ध्यान उसके यथार्थ एवं जीवंत चित्रण की ओर रहता है, उसी के अनुरूप वस्तु, पात्र और रस अपने स्थान प्राप्त कर लेते हैं। बाह्य घटनाओं की अपेक्षा आंतरिक द्वन्द्व या ऊहापेह की ओर ध्यान देने के कारण इस अवस्था में और परिवर्तन आ गया। डा॰0 रामविलास शर्मा ने लिखा है - "भारतेन्दु के नाटकों में एक-दो ही ऐसे मिलेगे जिनमें रीतिकालीन कवियों के शृंगार रस की प्रधानता हो। 'विद्यासुन्दर' और 'कर्पूरमंजरी' में पुरानी चाल का शंृगार अवष्य है, चन्द्रावली में शृंगार है लेकिन प्रेम की प्रधानता होने से नायिकाभेदी तत्व दबा हुआ है। बाकी नाटक रीतिकालीन शृंगार रस की परम्परा से दूर हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि नाटक साहित्य में भातेन्दु सामन्ती साहित्य की लीक छोड़कर समाजोपयोगी और यथार्थवादी साहित्य की नई लीक बना रहे थे।"10

भारतेन्दु ने सम-सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप प्राचीन और अर्वाचीन नाटक प्रणालियों से उपयोगी तत्व ग्रहण किए और स्वतंत्र नाट्य विधन का सूत्रपात किया। इसमें प्राचीन के प्रति श्रद्धा, नवीन के प्रति आस्था थी। दूसरे शब्दों में उन्होंने

Scanned with CamScanner

Impact Factor : 5.427
ISSN : 0976-6650

वंगीय नाट्यशैली का अंधानुकरण नहीं किया और न आवेश में आकर प्रत्येक प्राचीन नियम का उल्लंघन किया। उन्होंने संतुलित दृष्टि से उपयुक्त एवं आवष्यक सुधार किये

संदर्भ :-

1. भारतेन्दु का रंग चिन्तन - रमेष गौतम, पृष्ठ-37
2. भारतेन्दु ग्रन्थावली: पहला खण्ड, पं0 व्रजरत्नदास (2007 वि0) पृ0-716
3. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र – डॉ. रामविलास शर्मा, पृ0 74
4. हिन्दी नाटक: पुनर्मूल्यांकन - डा॰0 सत्येन्द्र तनेजा, पृ0 85
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचन्द्र पुक्ल, पृ0-461
6. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं -डा॰0 रामविलास शर्मा, पृ0- 114
7. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच- नेमिचन्द्र जैन सम्पादक
   भारतेन्दु की रंगदृष्टि लेख- सत्येन्द्र तनेजा, पृ0-77
8. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच- नेमिचन्द्र जैन सम्पादक- पृ0- 77-78
9. अन्तरंग वहिनरंग – डॉ. सत्येन्द्र तनेजा, पृ0-42
10. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं –डॉ. रामविलास शर्मा, पृ0- 114

Scanned with CamScanner

Reg. No. 694/2009-10
Anukriti (An International Peer Reviewed Refereed Research Journal), Vol. 10, No. 4, April, 2020

Impact Factor : 5.029
ISSN : 2250-1193

भारतीय राजनीति की समस्या और 'महाभोज'

डॉ. अभिषेक कुमार पटेल

सहायक प्राध्यापक, शासकीय शहीद कौशल यादव महाविद्यालय, गुण्डरदेही , छत्तीसगढ़

आज उपन्यास जीवन से बिना जुड़े नहीं लिखा जा सकता। इसका संबंध समाज से काफी गहराई तक होता है। जीवन-जगत को समग्रता में निरुपित करने के कारण ही उपन्यास को आधुनिक युग का महाकाव्य कहा गया है। समाज के प्रति गहरे सरोकार एवं सूक्ष्म दृष्टि ही उपन्यासकार को रचना के लिए प्रेरित करती है, यही बात मन्नू भंडारी पर भी लागू होती है।

अब प्रश्न उठता है कि वो कौन-सी परिस्थितियाँ थीं जिसने मन्नू भंडारी को 'महाभोज' जैसे उपन्यास लिखने के लिए बाध्य किया। इसका संकेत स्वयं मन्नू भंडारी ने 'महाभोज' की भूमिका में दिया है—"जब घर में आग लगी हो तो सिर्फ अपने अंतर्जगत में बने रहना या उसी का प्रकाशन करना क्या खुद ही अप्रासंगिक, हास्यास्पद और किसी हद तक अश्लील नहीं लगता? संभवत: इस उपन्यास की रचना के पीछे यही प्रश्न रहा हो। इसे मैं अपने व्यक्तित्व और नियति को निर्धारित करने वाले परिवेश के प्रति ऋण-शोध के रूप में ही देखती हूँ।"1

आज़ादी के बाद की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना या दुर्घटना इस सदी के आठवें दशक में घटित होती है जिसका असर हमारे समाज पर और हमारी राजनीतिक व्यवस्था पर अभी तक कायम है। यह आज़ादी के बाद लगे आपातकाल की घटना है जिसमें एक तरफ सत्ता का निरंकुश चेहरा उभरकर सामने आया तो उसके विरोध में जनता का आक्रोश भी सड़कों पर आ। हिंदुस्तान के गाँव और खेत-खलिहान शहर और मिलों की चिमनियों से एक नारा गूँज उठा 'सिंहासन खाली करो जनता आती हैं'। आपातकाल की घटना जहाँ जयप्रकाशन को 'सम्पूर्ण क्रांति' का नारा देने को मजबूर करती हैं, वहीं साहित्यकारों के साहित्य सर्जना को भी एक नई गति देती है। आज़ादी के बाद पहली बार कलम के सिपाही पैदा हुए जिन्होंने इसका हथियार की तरह इस्तेमाल करते हुए सत्ता के निरंकुश चेहरे पर पर्दाफाश किया और सोयी हुई जनता को जगाने का काम किया।

ऐसे बहुत-से नाम हिंदी साहित्य में मिल जाएँगे जिनकी लेखनी की धार बहुत तेज़ी के साथ आपातकालीन क्रूरता के खिलाफ सामने आई। भवानी प्रसाद मिश्र, नागार्जुन आदि इनमें से प्रमुख हैं।

उसी दौर की उपज होने के कारण 'महाभोज'का संबंध कहीं-न-कहीं प्रजातंत्र के इस नाटक से जुड़ता है, जिसकी छानबीन ज़रूरी है, ज़रूरी इसलिए क्योंकि मन्नू भंडारी के रचनामानस में उस तथ्य की तलाश की जाए जिसने इस उपन्यास के लिए 'प्रेरणा भूमि' का काम किया। यह सवाल इसलिए भी उठता है कि इसके पहले मन्नू भंडारी ने अपने दो उपन्यासों में जिसका संदर्भ क्रमश: सामाजिक और पारिवारिक है अचानक ही इस उपन्यास में राजनीतिक क्यों हो गया? उपन्यास का विषय बदलने का एक कारण उन्हीं के शब्दों में "मैं इन दिनों एक राजनीतिक उपन्यास 'महाभोज' पूरा करने जा रही हूँ पिछले दिनों 'बेलछी कांड' जैसी घटनाओं ने मुझे काफी उत्तेजित किया। हमारे राजनीतिज्ञ नेता और भ्रष्ट-शासकीय मशीनरी जिस तरह से हमारी गंभीर सामाजिक समस्याओं के साथ घिनौने राजनीतिक स्वार्थों के खेल खेलते हैं यह एक दर्दनाक दास्तान है। 'त्रिशंकु' में संग्रहित मेरी कहानियाँ 'तीसरा हिस्सा' और 'अलगाव' में आपको इसका संकेत मिलेगा। मेरे मन का यही दर्द इस उपन्यास में गहरे और व्यापक रूप में छलका है।"2 (27 मई, 1979)

मन्नू भंडारी के इस कथन से यह जाहिर होता है कि बेलछी काण्ड जैसी क्रूर घटनाओं ने इन्हें काफी गहरे तक कुरेदा था। इसलिए 'महाभोज' उपन्यास को उसके संदर्भगत परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए ज़रूरी है कि बेलछी काण्ड को पूरी तौर से समझा जाए।

यह घटना राजनीतिक दृष्टि से जागरूक राज्य बिहार में घटित हुई थी। 1975 में जब तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने देश पर आपातकाल थोपा तो बिहार में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में सम्पूर्ण क्रांति की बिगुल फूँकी गई। अंतत: 1977 के चुनाव में कांग्रेस की हार हुई तथा जनता पार्टी की सरकार बनी। लोगों को लगा कि सही मायने में आम जनता की सरकार बनी है। परंतु ऐसा मानना उनका भ्रम था। दरअसल वे नेताओं के घाघपन को पहचान नहीं पाए।

जनता पार्टी के शासन काल के दौरान ही 27 मई 1977 को बिहार के पटना जिले के एक गाँव बेलछी में चौदह हरिजनों की क्रूर हत्या कर दी गई। उसी इलाके के कुछ प्रभावशाली लोगों द्वारा यह काण्ड किया गया था। इस घटना का ब्यौरा

Scanned with CamScanner

Reg. No. 694/2009-10
Anukriti (An International Peer Reviewed Refereed Research Journal), Vol. 10, No. 4, April, 2020
Impact Factor : 5.029
ISSN : 2250-1193

देते हुए जून 1977 को 'नवभारत टाइम्स' ने 'पटना जिले में हरिजनों की नृशंस हत्या' शीर्षक से लिखा था... दो बच्चों सहित 13 जिंदा जला दिये—एक को गोली मार दी। नई दिल्ली 3 जून (समा) पिछले महीने की 27 तारीख को बिहार में पटना जिले के एक गाँव में एक हरिजन की गोली मारकर हत्या कर दी गई और 13 अन्य को हाथ पैर बाँध कर आग में जिंदा जला दिया गया। यह सनसनीखेज खबर एक अत्यंत विश्वस्त सूत्र द्वारा समाचार को आज यहाँ दी गई। हत्या करने वाले उस गाँव के आस-पास के कुछ ऐसे प्रभावशाली लोग बताए जाते हैं जिनका नाम ही बंदूकधारी पार्टी पड़ गया है। पिछले कुछ वर्षों से उन लोगों ने एक गिरोह के रूप में उस क्षेत्र में आतंक फैला रखा है। राजनीतिक दलों के कुछ प्रमुख नेताओं का प्रश्रय भी इन्हे इस बात के बदले मिलता रहा है कि चुनाव के समय वे उन नेताओं की मदद करें। यह घटना पटना जिले के बाढ़ थाने के बेलछी गाँव में हुई थी। बताया जाता है कि 'बंदूकधारी पार्टी' के लगभग 50 सशस्त्र लोगों ने भरी दोपहरी में गाँव पर धावा बोल दिया। चालीस वर्षीय एक हरिजन को उसके दरवाज़े पर गोली मार दी, फिर लकड़ी और उपलों का जमाव करके उस पर डीजल छिड़क कर आग लगा दी पहले मृत हरिजन को उसमें फेंका उसके बाद दो बच्चों (9 साल, 13 साल) और 30 से 40 वर्ष की आयु के 11 अन्य लोगों को उनके घरों से घसीट कर हाथ-पैर बांध कर एक-एक करके उस आग में फेंक दिया गया। जल रहे व्यक्तियों की चीख-पुकार पर उधर दौड़ पड़े उनके परिवारों के लोगों को पकड़ कर दूर भगा दिया गया।

आज़ादी के तीस साल बाद भी यह कैसी आज़ादी है? अमीरों एवं दबंगों द्वारा गरीबों को कीड़े-मकौड़े की तरह मारने की आज़ादी नहीं तो और क्या है? वस्तुत: 'महाभोज' इसी पक्ष को रेखांकित करता हुआ मार्मिक उपन्यास है।

'महाभोज' की मूल समस्या राजनीतिक विकृति है। भारत की स्वाधीनता के बाद लोकतंत्र आया और लोकतंत्र धीरे-धीरे कैसे भीड़तंत्र में बदला, इस विंदु पर यह उपन्यास बार-बार प्रश्न उठाता है। भारत के इतिहास में लोकतंत्र के आने के बाद ऐसा पहली बार हुआ कि राजनीति सामाजिक जीवन की धुरी बन गई। लोकतंत्र की सफलता के लिए दो बातें आवश्यक हैं—सभी लोग इतने समझदार हों कि अपने हित-अहित को बारीकी से समझ सकें दूसरे वे अपने वास्तविक हितों के लिए एक-दूसरे से जुड़ सकें। भारत में जिस समय में लोकतंत्र आया वह आम भारतीयों के लिए अशिक्षा का दौर था। आम आदमी समानता, स्वतंत्रता, न्याय जैसे आधुनिक मूल्यों के प्रति प्राय: अनभिज्ञ थे, लोकतंत्र में किस प्रकार विवेकशील निर्णय लिए जाने चाहिए वह इन बातों से भी बेखबर थी। इसी स्थिति के कारण राजनीति में संवेदनहीन अवसरवाद पैदा हुआ और एक अविश्वसनीय किस्म का दिखावटी नेतृत्व विकसित होने लगा।

यह उपन्यास कर्मयोग और गांधीवाद की रामनामी ओढ़े हुए मुख्यमंत्री दा साहब की शतरंजी राजनीतिक चालों की गाथा नहीं है, बल्कि यह गाथा है—आज की मुखौटाधर्मी राजनीति के नीचे पिसती-घुटती दलित जनता की। स्वयं मन्नू भंडारी लिखती हैं कि "जनता सरकार के राज में घटी थी बेलछी की दिल दहला देने वाली घटना। किसी पत्रिका में मैंने हरिजनों को पेड़ से बाँधकर जिंदा जला देने की क्रूरता और गाँव में फैली उस दहशत का, जिसने सबके मुँह पर ताले जड़ दिए थे—रोम-रोम को द्रवित कर देने वाला ऐसा वर्णन पढ़ा कि मैं ऊपर से नीचे तक थरथरा गई।... पर कोई सार्थक रचना रची नहीं जा सकी सो चुप लगाकर बैठ गई... पर कुछ समय बाद जब मुझे मालूम पड़ा कि हरिजनों को जलाने वाले व्यक्ति ने जेल से पैरोल पर छूटकर केवल चुनाव ही नहीं लड़ा बल्कि वह भारी बहुमत से जीत भी गया तो नज़र इस त्रासदी के साथ-साथ चुनाव-केन्द्रित राजनीति पर टिक गई... आज तो इसका वीभत्सतम रूप देखने को मिलता है। राजनीति की शतरंज पर आम आदमी तो शुरू में ही मोहरा भर रहा है, जिसका नाम लेकर ये खास आदमी शह और मात का घिनौना खेल खेलते आ रहे हैं। बड़ी निर्ममता और बेहयाई से ये इसकी जिंदगी को भुनाते हैं। तो इसकी मौत को भी।"3 वस्तुत: यह उपन्यास राजनीति के अपराधीकरण और अपराध के राजनीतिकरण के प्रथम चरण की गाथा है, जिसमें अपराधी प्रशासन और राजनीतिक सत्ता का एक मजबूत गठबंधन बनता हुआ दिखता है। 'महाभोज' से पूर्व ही रेणु ने 'मैला आँचल' में यह दिखाया था कि सत्ता के विभिन्न संस्थान स्वार्थ और आत्मोन्नति से कैसे ग्रस्त हैं। तमाम अवसरवादी और अमानवीय शक्तियाँ या तो सत्ता के शीर्ष पर पहुँच चुकी हैं या पहुँचने के लिए होड़ कर रही हैं। अत्याचार की शिकायत करने पूर्णिया गया 'बावन दास' वहाँ जाकर देखता है—"पूर्णिया में जुलुम हो रहा है...और जिला कांग्रेस पार्टी हो या सोशलिस्ट, सभी पार्टी समान हैं।"4 रेणुजी ने इस उपन्यास में यह दिखाया है कि किस प्रकार कल तक ब्रिटिश सत्ता का साथ देने वाले अवसरवादी लोग आज कांग्रेस संगठन पर हावी होते जा रहे हैं, किस प्रकार राजनीतिज्ञों, तस्करों और प्रशासन का गठबंधन तैयार हो रहा है। 'मैला आँचल' में राजनीति के अपराधीकरण की समस्या अंचल की समस्या है लेकिन 'महाभोज' तक आते-आते यह राष्ट्रीय समस्या के रूप में बर आती है। यदि विरोधी दल के नेता सुकुल बाबू अपनी सभा की सफलता के लिए लठैतों की सहायता लेते हैं तो सत्ता पक्ष के दा साहब जोरावर जैसे अपराधी को

Scanned with CamScanner

Impact Factor : 5.029
ISSN : 2250-1193

संरक्षण देते हैं। इन दोनों के बीच लोचन बाबू जैसे सिद्धांतवादी लोग अपने आप को विवश और असहाय महसूस करते हैं। अपराधियों और राजनेताओं के बीच का यह गठबंधन डी.आई.जी. सिन्हा और स्थानीय दारोगा जैसे अधिकारियों के माध्यम से उभरकर सामने आता है। बिंदा इस नापाक गठबंधन को बेपर्द करते हुए एस.पी. सक्सेना से कहता है, "जोरावर की रखैल इस थानेदार ने रिपोर्ट तैयार करके दे ही दी है, भरी सभा में दा साहब भी कह ही गए कि बिसु ने आत्महत्या की है, 'मशाल' वालों ने छाप भी दिया, बस आप लोगों के लिए तो वह बात खत्म हो गई, पर मैं नहीं मान सकता, मरते दम तक नहीं मान सकता कि बिसु...।"5 सत्ता के इस चरित्र से, राजनीति के अपराधीकरण से बिन्दा परिचित है उसे बिसु की इस बात में विश्वास नहीं होता कि आगजनी के अपराधियों को पकड़वाने के लिए केन्द्र सरकार या किसी भी सरकार के यहाँ फरियाद की जाए। बिन्दा, सक्सेना से कहता है, "जब सरकार की सारी बात को दाब-ढाँक रही है तो मेरे-तेरे भाग दौड़ करने से क्या होगा? जैसी यहाँ की सरकार वैसी दिल्ली की सरकार! हमने तो सबको देख लिया है साहब एक वह शराबी सरकार थी, अब यह पिसाची सरकार... ससुर ऐसे।"6 दूसरी आज़ादी के प्रतिनिधि मुख्यमंत्री दा साहब के शासन काल में बिसु की हत्या के मामले में बिंदा को फँसाकर झूठा केस तैयार करने वाले डी. आई. जी. सिन्हा को प्रोन्नत करते हुए आई.जी. बनाया जाना है जो प्रशासनिक अपराध के लिए पुरस्कार है। हरिजन-अग्निकाण्ड और बिसु की हत्या में सच्ची रपट तैयार करने वाले एस. पी. सक्सेना मुअत्तल कर दिए जाते हैं। यह उन तमाम कर्तव्यनिष्ठ और ईमानदार नौकरशाहों के लिए एक चेतावनी है। बिसु की हत्या में बिन्दा को फँसाकर जोरावर को बचा लेना सत्ता द्वारा अपराधियों को दिये जाने वाले संरक्षण का प्रमाण है। दूसरी ओर, जोरावर को टिकट न देना अपराधी को राजनीति से दूर रखकर उन्हें राजनीति के लिए उपयोगी बनाए रखने की राजनीति है। आज किसी दल का जीतना उसके अच्छे कामों पर निर्भर नहीं करता, वह निर्भर करता है प्रशासन और अपराधियों के आतंक तथा कुछ खास वोट बैंक पर। आज राजनीतिक दलों के ध्यान में जनता नहीं, उसका वोट बैंक है और वोट बैंक की यह राजनीति समाज को विभाजित करने का काम करती है, जिसका खामियाजा अंततः जनता को भुगतना पड़ता है। दा साहब के लिए जोरावर सिंह सिर्फ अपराधी होने के कारण ही उपयोगी नहीं हैं, इसलिए भी है कि सरोहा के 35 प्रतिशत जाट मतदाताओं पर उसकी ज़बरदस्त पकड़ है। स्पष्ट है कि 'महाभोज' की पूरी कथा अपराधी, प्रशासन और राजनेता के बीच विकसित हो रहे मधुर संबंध की शिनाख्त करती है।

आज़ादी के तुरंत बाद ही राजनीतिक नेताओं के चरित्र में राजनीतिक कुत्साओं के लिए जगह बनने लगी थी, लेकिन उन्हें नियम, कानून और सिद्धांतों की आड़ लेकर छिपाने की कोशिश होती थी। तब राजनीति में न तो नंगापन दिखाया जाता था और न ही खुलेआम अपराधियों की पीठ थपथपाने की निर्लज्जता। इस उपन्यास में दा साहब प्रत्यक्षतः अपराधिक गतिविधियों में संलग्न नहीं दिखते। उनका अपराध यह है कि वे अपराधियों को संरक्षण प्रदान करते हैं, लेकिन इसके लिए उन्हें आदर्शों और सिद्धांतों का सहारा लेना पड़ता है। उनके प्रत्यक्षतः नहीं जुड़े होने के बावजूद राजनीतिक पेंच के कारण उनसे उत्पन्न नहीं होते ये पैदा होते हैं, उनके नीचे के लोगों से, जिनके समर्थन की बदौलत वह सत्ता की राजनीनि में सुकुल बाबू जैसे घाघ राजनीतिज्ञों को मात देने में सफल होता है।

इस उपन्यास में मन्नू जी ने सत्ता और दल-बदल की राजनीति को बेपर्द करने का काम किया है। दा साहब जिस दूसरी आज़ादी का नेतृत्व करते हुए सत्ता में आए थे, उस दूसरी आज़ादी की निरर्थकता अपनी पूरी कुरुपता के साथ उभरकर सामने आती है। इस पूरे उपन्यास के राजनीतिक चरित्रों में यदि लोचन बाबू को अपवाद स्वरूप छोड़ दिया जाए तो दा साहब अन्य राजनीतिज्ञों से बीस ही नहीं इक्कीस साबित होते हैं। ऐसा नहीं है कि दा साहब कोई कोरा पात्र हैं बल्कि वह भारतीय राजनीति के यथार्थ हैं। मन्नू भंडारी ने स्वयं ऐसे चरित्र को नजदीक से देखा एवं समझा था। उन्हीं के शब्दों में "दा साहब की भूमिका अदा करने के लिए किशोरावस्था में निकट संपर्क में आए और ताज़िंदगी राजस्थान की एक प्रमुख हस्ती के रूप में रहे असली दा साहब प्रकट हो गए।"7 राव, मेहता, बापट जैसे राजनीतिज्ञ अपनी अवसरवादिता और स्वार्थी प्रवृत्ति के कारण दा साहब को पाठकों की उस सहानुभूति का हकदार बना देते हैं, जिसके दा साहब हकदार नहीं हैं। इस उपन्यास के प्रतिपाद्य की माँग थी कि दा साहब के प्रति पाठकों में घृणा का संचार हो, लेकिन ऐसा हो नहीं पाता, क्योंकि आज हमारी राजनीति पूरी तरह से नैतिकता विहीन और मूल्यविहीन हो गई है, जबकि दा साहब की राजनीति में कुछ मूल्य शेष बचे हैं। इस संदर्भ में दा साहब के विरोधियों और असंतुष्टों की स्थिति ज़्यादा निराशाजनक है। दा साहब तो, जहाँ शोला भड़कता है, वहाँ सिर्फ पानी डालने का काम करते हैं, वे पूरी उठा-पटक के बीच भी अपने को तटस्थ बनाए रखते हैं। वे जो वायदा करते हैं उसको पूरा करते हैं और काम हो जाने पर न मुकरते हैं और न ही लात मार कर गिराने की कोशिश करते हैं। दा साहब कहते हैं—"मैं बहुत ऊँचे तक नहीं

Scanned with CamScanner

Impact Factor : 5.029
ISSN : 2250-1193

ले जा सकता, लेकिन जहाँ ले जाता हूँ, वहाँ खड़े होने के लिए कम-से-कम ज़मीन ज़रूर देता हूँ। मेरे साथ चलने वालों के सामने औंधे मुँह गिरने का खतरा कभी नहीं रहता।"8

यह बात और है कि दा साहब की राजनीति में शेष रह गए मूल्य केवल उन लोगों के लिए हैं जो उनके समर्थक हैं, जो उनके काम आते हैं। ये मूल्य विंदा, विसु, सक्सेना जैसे व्यवस्था के शिकार चरित्रों के लिए नहीं हैं, जो अपराधियों की साजिश और सत्ता की राजनीति से तबाह हो जाते हैं। इस उपन्यास में दा साहब के चरित्र की विशिष्टता यह है कि अपनी तमाम नृशंसताओं और अमानवीयता के बावजूद दा साहब कहीं भी मानवघाती, शातिर, अपराधी राजनेता के रूप में उभरकर सामने नहीं आते।

'महाभोज' में दा साहब की जोड़-तोड़ और तिकड़म में माहिर बुद्धि, गीतावाद और गांधीवाद की अतिरिक्त उदारता और अतिजीवित सत्य के साँचे में लाकर सामंती अवशेषों और नव पूँजीवादी संपत्ति और सत्ता में डूबी शक्तियों को बेहिसाब संरक्षण देती है। वह लखन जैसे अयोग्य किंतु अपने आदमी को आसन पर बिठा देने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ते। दा साहब की राजनीति जोरावर की गुंडागर्दी और लखन जैसे अयोग्य को संरक्षण देती हुई बिसु की मानवीय व्याकुलता को मार देने में तनिक भी नहीं हिचकती। उनकी राजनीति बिंदा के मानवीय और संभावनाशील क्रोध की हत्या का अपराधी बना देने में अपनी बौद्धिक योग्यता का प्रमाण देती है तथा सक्सेना जैसे ईमानदार और प्रशासकीय अनुशासन को अयोग्य बनाकर खारिज कर देने में ज़रा भी शर्म नहीं खाती। इस शक्ति ने मानवीय अंतर्वस्तु को चबाकर आदमी को बेबस और अकेला कर दिया। वस्तुत: बिसु और बिंदा का अकेलापन और यातना दा साहब की इसी लोकतांत्रिक राजनीति की उपज है। इसी लोकतांत्रिक राजनीति का परिणाम है कि बिसु, बिंदा और रुक्मा के अकेलेपन और यंत्रणा को शेयर करने वाला सक्सेना का उसी की स्थिति में पहुँच जाना। लेखिका ने उपन्यास के अंत में लोचन बाबू की मन:स्थिति को चित्रित कर यह दिखाया है कि दा साहब की राजनीति को लोचन बाबू जैसे सिद्धांतवादी एवं आदर्शवादी राजनीतिज्ञों को, जो वर्तमान व्यवस्था में लगातार अकेले पड़ते चले जा रहे हैं और उन्हें लगातार अपनी अप्रासंगिकता का अहसास हो रहा है, उस बिंदु तक पहुँचा देती है जहाँ पाठकों को ऐसा प्रतीत होता है कि लोचन बाबू ठीक उसी प्रकार बिसु और बिंदा का राजनीति संस्करण प्रतीत होते हैं, जिस तरह सक्सेना उनका प्रशासनिक संस्करण।

दा साहब की राजनीति का ढंग भी उन्हें आज के राजनेताओं से अलग करता है। वे गीता के अनुशासन संरक्षक और समर्थकों के हित चिंतक के रूप में उभरकर सामने आते हैं। जहाँ कृष्ण ने अपराध का सहारा अपराधियों को समाप्त करने के लिए लिया था, मसलन कर्ण की हत्या करवायी, दुर्योधन की जंघा तुड़वाई और भीष्म एवं द्रोण से पांडवों को अलग करवाया, वहीं दूसरी तरफ दा साहब का अपराध अपराधियों को बचाने में है। इनके अपराध की जो फेहरिस्त बनती है, उससे भी ये मक्कार राजनेता प्रमाणित नहीं होते।

मन्नू जी ने दा साहब के चरित्र के ज़रिए लोकतंत्र के चौथे स्तंभ पत्रकारिता के स्वार्थपरक चरित्र को भी पाठकों के सामने उद्घाटित किया है। पाठक दा साहब को कहीं भी मशाल के संपादक दा साहब को निर्देश देते हुए नहीं पाता, वह पाता है कि दा साहब तो निष्पक्ष और स्वतंत्र लेखन के लिए दत्ता साहब को प्रोत्साहित करते हैं। कागज़ का कोटा दुगुना करने और सरकारी विज्ञापन देने का आश्वासन देते हैं, लेकिन जब पाठक पाता है कि मशाल दा साहब की स्तुति करते हुए प्रकाशित होता है तो पत्रकारिता और सत्ता का गठबंधन पाठकों की नज़र से ओझल नहीं रह पाता। दत्ता बाबू के सामने ही दा साहब डी.आई.जी. के समक्ष बिसु के हत्या के प्रकरण की व्याख्या करते हैं और इसकी स्वतंत्र एवं निष्पक्ष जाँच का आदेश भी डी.आई.जी. को देते हैं तो दत्ता बाबू के साथ-साथ पाठक भी दा साहब की न्यायप्रियता का कायल हो जाता है लेकिन अगले ही पल वह पाता है कि उनकी व्याख्या और व्यवस्था के अनुकूल ही हत्या की रिपोर्ट बदलकर बिंदा के माथे बिसु की हत्या की जिम्मेवारी मढ़ दी जाती है और जोरावर सिंह को बेदाग बचा लिया जाता है। यह सत्ता, नौकरशाही और अपराधियों के गठबंधन का नायाब उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही लोकतंत्र में कानून की जटिलता उभरकर सामने आती है। बिन्दा कहता है—"बेगुनाहों को पकड़ने और गुनाहगारों को छोड़ने का कारण तो निकल ही आता है... कानून और पुलिस के हाथ बहुत लंबे होते हैं—केवल गरीबों को पकड़ने के लिए।"9 यही नहीं सुकुल की राजनीति का तो एक ही सिद्धांत है—"मारने वाले को शह दो और मरने वाले को हमदर्दी। यह सत्ता की राजनीति तो अंतर्विरोधों के प्रबंधन पर ही टिकी है और दा साहब से बेहतर इसका उदाहरण और कौन हो सकता है? इसी क्रम में बिसु हत्याकांड की निष्पक्ष जाँच कर रहे एस.पी. सक्सेना की मुअत्तली पाठकों को झकझोर कर रख देती है। लेकिन ये सारे अपराध दा साहब ने अपनी किसी व्यक्तिगत इच्छा की पूर्ति या लाभ के लिए नहीं किए, वे न तो भाई-भतीजावादी हैं और न ही आज की तरह भ्रष्ट राजनेता। उन्होंने इस गंदी राजनीति से भी अपने

Scanned with CamScanner

Impact Factor : 5.029
ISSN : 2250-1193

को वहुत हद तक वचाए रखा तो यह उनके चरित्र की उपलब्धि है और यह चरित्र उन्हें आज का राजनेता नहीं, वरन् छठे-सातवें दशक का राजनेता प्रमाणित करता है। जब दा साहब की पत्नी जमुना बहन उनसे कहती है—'तुम जैसे संत आदमी को संन्यास ले लेना चाहिए।"10 तो इसी कारण पाठक दा साहब की भव्यता से अपने को प्रभावित पाता है। स्पष्ट है कि यदि दा साहब संत नहीं तो सीधे अपराधी भी नहीं हैं। इस उपन्यास में दा साहब शुरू से अंत तक निस्पृह बने हुए दिखते हैं, लेकिन यह भी सच है कि रचनाकार का उद्देश्य यह नहीं है कि दा साहब को निस्पृह बताकर दलित समस्या को दबा दिया जाए।

वस्तुत: 'महाभोज' में अंतर्दृष्टिमूलक धुंधलापन है और इसी वजह से इसमें लेखिका का अभिप्राय कुछ और है और अभिव्यक्ति कुछ और वह बताना चाहती हैं कि राजनीति सत्ता पक्ष की हो या विपक्ष की, उसकी शक्ति उठ रहे फन को कुचलने में ही खर्च हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि पूरे उपन्यास में मन्नू भंडारी के अंतर्द्वंद्व को अभिव्यक्ति मिली है, जिसमें एक ओर दा साहब के व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण है तो दूसरी तरफ परिवेश के प्रति ऋण शोध वाले दायित्व का निरंतर अहसास। इस समूचे द्वंद्व में अंतत: दा साहब के प्रति आकर्षण मन्नू जी पर भारी पड़ता है। यही कारण है कि उपन्यास में दा साहब का व्यक्तित्व पर छत्तनार वृक्ष की तरह छा गया है एवं उनके व्यक्तित्व की प्रतिछाया हो गई है। इसी कारण दलित उत्पीड़न बिसू और बिंदा की त्रासदी न तो पूरी तीव्रता के साथ उभर पाती है और न ही यह उपन्यास की केन्द्रीय समस्या बनी रह पाती है। जबकि मन्नू भंडारी इसके विपरीत चाहती थीं। इसका संकेत उन्होंने अनिरुद्ध सत्यार्थ के साथ एक भेंटवार्ता में इन शब्दों में दिया था—"इस उपन्यास की उस बात को रेखांकित करूँगी कि 'बिसू की अग्निलीक' विद्रोह की उस भावना को आप दबा तो सकते हैं, कुचल नहीं सकते। उसकी निरंतरता बनी रहती है। जब बिसू मरता है तो बिंदा उभरता है, फिर एस.पी. सक्सेना। सारे अंधेरे और काले माहौल में भी विद्रोह की एक चिंगारी रहती है। इतिहास विद्रोह की इस शाश्वतता का साक्षी है। मैं इसमें आज की बद से बदतर स्थितियों में भी गहराई से विश्वास करती हूँ।"11

संदर्भ :

1. मन्नू भंडारी : 'महाभोज', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 6
2. डॉ. वंशीधर, डॉ. राजेन्द्र मिश्र, 'मन्नू भंडारी का श्रेष्ठ सर्जनात्मक साहित्य', पृ. 102
3. मन्नू भंडारी : 'एक कहानी यह भी', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 133
4. रेणु : 'मैला आँचल', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 290
5. मन्नू भंडारी : 'महाभोज', वही, पृ.116
6. वही, पृ.119
7. मन्नू भंडारी : 'एक कहानी यह भी', वही, पृ. 135
8. मन्नू भंडारी : 'महाभोज', वही, पृ. 134
9. वही, पृ. 118
10. वही, पृ. 147
11. 'राष्ट्रीय सहारा', 25 मई, 2003

Scanned with CamScanner

Since March 2002
A National, Registered, Peer Reviewed & Refereed Monthly Journal
Hindi Literature
Research Link - 174, Vol - XVII (7), September - 2018, Page No. 56-57
ISSN - 0973-1628 ■ RNI - MPHIN-2002-7041 ■ Impact Factor - 2015 - 2.782

छायावादी काव्य में नारी एवं राष्ट्रीय सामाजिक चेतना

प्रस्तुत शोधपत्र में छायावादी काव्य में नारी एवं राष्ट्रीय सामाजिक चेतना का अध्ययन किया गया है। छायावादी काल का सन् 1920 से 1936 तक माना गया है। यह वह समय था, जब समस्त भारत की जनता गाँधीजी के नेतृत्व में अंग्रेजों से भारत को मुक्त कराने के लिए एकजुट होकर आजादी की लड़ाई लड़ रही थी और उसके हृदय में राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना हिंडोले ले रही थी। प्रसादजी ने अपने नाटकों - 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना जागृत की तथा भारत के अतीत गौरव का गुणगान किया। छायावादी कवियों ने भी बिम्बों के एक-से-एक आकर्षक प्रयोग किए हैं और अतिश्योक्ति नहीं कि महादेवीजी ने संवेद्य बिम्बों का आकर्षक प्रयोग किया। छायावादी काव्य में एक ओर तो राष्ट्रीय चेतना को व्यक्त करने वाली रचनाएँ लिखी, तो दूसरी ओर सामाजिक चेतना को परिवर्तित करने का प्रयास किया।

डॉ. श्रद्धा चन्द्राकर

छायावादी काव्य में नारी के प्रति सम्मान भाव व्यक्त किया गया है और उसे पुरुष की प्रेरक शान्ति माना गया है। रीतिकाल में जहाँ नारी को भोग्या मानकर एक वस्तु के रुप में देखा गया वही छायावादी काव्य में उसे एक विशिष्ट स्थान कर गरिमा प्रदान की गई है। मध्ययुगीन साहित्य में नारी के प्रति भोगवादी दृष्टिकोण उभर कर सामने आया। इसके विपरीत छायावादी युग में नारी एक प्रेरक सखी तथा सहचरी के रुप में स्थापित हुई, छायावादी कवि सौन्दर्य के चितेरे है, किन्तु उनका सौन्दर्यबोध रीतिकालीन सौन्दर्य भावना से एकदम अलग है। रीतिकाल में जहाँ नारी के स्थूल सौन्दर्य का चित्रण है, वहीं छायावाद में नारी के सूक्ष्म सौंदर्य का चित्रण है। पन्त जी ने नारी को भोग की वस्तु नही अपितु प्रतिष्ठित मानवी का दर्जा दिया –

"सिर्फ योनि नही है रे नारी वह भी मानवी प्रतिष्ठित।"

छायावादी कवियों ने नारी को पूज्य मानकर उसके प्रति श्रद्धा भाव व्यक्त किया है, "कामायनी" में प्रसाद जी कहते हैं :

नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष स्त्रोत सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में।।

जयशंकर प्रसाद ने "कामायनी" में नारी को श्रद्धा का विषय माना है। यह वही दौर था, जब प्रेमचंद जैसे रचनाकार भी नारी के प्रति प्रगतिशील चेतना को उजागर कर रहे थे। उन्होंने "गोदान" में नारी सम्बंधी दृष्टिकोण को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है :

"नारी पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है,
जितना प्रकाश अंधकार से"

कामायनी में नारी की भूमिका पर भी प्रकाश डाला गया है। नारी प्रेरणा का पावन उत्स है। निराश पुरुष को नारी ही प्रेरित करती है, वही उसके हृदय में आशा जगाती है, और वही उसे कार्यक्षेत्र में प्रवृत्त करती है।

निराला नारी प्रेम को मानवीय संवेदना के रुप में देखते है। उन्होंने प्रेम को जाति, जन्म वर्ण तथा धर्म परे माना है।

दोनों हम भिन्न वर्ण भिन्न जाति भिन्न धर्म भाव।
पर प्राणों के अपनाओं से एक थे।

पन्त जी नारी के प्रेम को विषय वासना से कोसों दूर मानते थे। यह आरोप लगा कि इस धारा की नारी चेतना जिस प्रेम की वकालत करती थी, वह अतिन्द्रिय थी। कुछ हद तक यह आलोचना सटीक है, क्योंकि समाज और साहित्य का दायरा अभी भी संकुचित था।

नारी उस दायित्व को तोड़ नही पाई थी। इन रचनाकारों के निजी जीवन में झेले गए सामाजिक देश तथा राष्ट्रीय पराधीनता के बोझ तले से मुक्ति के लिए यदि कोई उपाय था। उसे कल्पनाशीलता के तहत समझा जा सकता है।

"अभी तक तो पावन प्रेम कहलाया नही पापाचार
हुई मुझको आज यह मंदिरा हाय गंगाजल की धारा"

छायावादी नारी चेतना को लेकर एक अन्तर्विरोध भी दिखाई पड़ता है। यह माना गया कि इन रचनाकारों ने नारी को अतिशय स्वतंत्रता देने की कोशिश की, लेकिन कहीं न कहीं इस पर मध्ययुगीन पुरुषवादी मानसिकता का भी दबाव रहा। प्रसाद जी ने नारी को श्रद्धा का विषय तो माना, लेकिन यह भी कामना की कि यदि भारतीय नारी पश्चिमी बाजारवादी मूल्यों के चमक–दमक में फंस जाये, तो स्वयं ही वह अपने मूल्यों को खो देता है, पर ऐसा समाज के लिए पतनघाती होगा। उन्होंने नारी को नारीत्व के मूल्यों से जोड़कर देखना चाहा। सेवा, त्याग, समर्पण, ममता कुछ ऐसे ही मुख्य तत्व रहे थे, जो भारतीय समाज के लिये सीमेंट का कार्य करते

प्राचार्य, शासकीय शहीद कौशल यादव महाविद्यालय, गुण्डरदेही, जिला-बालोद (छत्तीसगढ़)

Scanned with CamScanner

थे। इसके विपरीत यदि नारी पश्चिमी आकर्षण का शिकार हुई, तो रूप तथा सौन्दर्य को उपकरण की तरह उपयोग करेगी। उन्होंने माना कि भारतीय नारी यदि उच्छृंखल हो गई तो समाज का विलगन अवश्यम्भावी होगा।

"आंसू से भीगे अँचल पर
मन का सब कुछ रहना होगा।
तुमको अपनी स्मृति रेखा से
यह संधि पत्र लिखना होगा।।"

छायावादी का काल सन् 1920 से 1936 तक माना गया है। यह वह समय था, जब समस्त भारत की जनता गाँधी जी के नेतृत्व में अंग्रेजों से भारत को मुक्त कराने के लिए एकजुट होकर आजादी की लड़ाई लड़ रही थी और सबके हृदय में राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना हिंडोले ले रही थी। प्रसादजी ने अपने नाटकों 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना जागृत की तथा भारत के अतीत गौरव का गुणगान किया। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रसाद जी ने राष्ट्रीयता को उसके चरम शिखर पर पहुँचाया है। कार्नेलिया भारत को अपना देश मानते हुए उसकी प्रशंसा इन शब्दों में करती है।

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुंच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।।"

प्रसाद जी के काव्य संकलन लहर में संकलित कविता 'पेशेला की प्रतिध्वनि' राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत है।

छायावादी कवियों में राष्ट्रीयता की प्रखर भावना नियता की कविताओं में दृष्टिगत होती है। 'जागो फिर एक बार' कविता में निराला ने भारत की उन चिर प्रस्तुत शक्तियों को जगाने का प्रयास किया है, जो परतंत्रता की चीर गहरी निन्द्रा में प्रस्तुत अवस्था में सोये पड़े हैं।

"जागो फिर एक बार
पशु नहीं वीर तुम समर शूर क्रूर नहीं
काल-चक्र में हो दबे आज तुम राजकुंवर समट सरताज"

भारत माता के उस सुन्दर साकार रुप को जिसके पदतल में लंका कमल की भांति सुशोभित हो रही है, यह भाव इस कविता में दृष्टिगत हो रहे हैं :

भारति जय विजय करे
कनक भास्य कमल धरे,
लंका पदतल भावदल
गर्जितोर्मि सागर जल
धोता शुमि चरण युगल।।

छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा की कविताओं भी राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत दिखाई पड़ती है। वह अपने गीतों में राष्ट्र को उद्‌बोधन देती हुई कहती है।

चिर सजग आँखें उनीदी
आज कैसा व्यस्त बाना
जाग तुझको दूर जाना

राष्ट्रीयता के भावना के साथ-साथ सामाजिक समस्याओं को भी छायावाद में अभिव्यक्त किया गया। निराला जी ने अपनी कविताओं में क्रांति का आह्वान किया और गरीबो के शोषण के लिए हर स्तर पर विरोध किया यह विद्रोह भावना उनकी कविताओं में दृष्टिगत होती है।

"चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए।
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी है अड़े हुए।।"

दलितों एवं दीनों के प्रति सहानुभूति रखने वाले निराला समाज में समरसता स्थापित करने के पक्षधर थे। वे समाज के सभी कष्टों का मूल कारण इस विषमता को ही मानते हैं।

तात्पर्य यह है कि छायावादी कवियों ने बिम्बों के एक से एक आकर्षक प्रयोग किए हैं और अतिश्योक्ति नहीं कि महादेवी जी ने संवेद्य बिम्बों का आकर्षक प्रयोग किया। छायावादी काव्य में एक ओर तो राष्ट्रीय चेतना को व्यक्त करने वाली रचनाएँ लिखी, तो दूसरी ओर सामाजिक चेतना को परिवर्तित करने का प्रयास किया गया।

संदर्भ :

(1) तिवारी, संतोष कुमार : छायावादी काव्य की प्रगतिशील चेतना, पृ. 61.

(2) हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, नवम् भाग पर उद्धव, पृ. 141.

(3) शर्मा, रमेश चंद्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 273.

(4) शुक्ल, आचार्य रामचंद्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 407.

(5) सिंह, नामवर : आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ. 59.

(6) अवस्थी, ललित मोहन का लेख – प्रगतिवादी हिन्दी काव्य, माध्यम, फरवरी 1965, पृ. 30.

(7) नामवर सिंह और छायावाद blogspot.com, रविवार 15 अप्रैल 2012.

(8) प्रकृति के रंग, सुमित्रानंदन पंत के संग डॉ.मन्जू पाण्डे।

Scanned with CamScanner

3.3 2018-19

ISSN 2455-6033

मीरायन

वर्ष-14 अंक : 1 (पूर्णांक : 53)

मार्च-मई, 2020

मीरा स्मृति संस्थान, चित्तौड़गढ़ की त्रैमासिक शोधपत्रिका

यू.जी.सी. केयरलिस्ट की इण्डियन लेंग्वेजेज की पत्रिकाओं में सम्मिलित (पत्रिका क्र.सं. 62)

Scanned with CamScanner

आर.एन.आई. पंजीयन संख्या - RAJHIN/2007/19628
ISSN 2455-6033

मीरायन

(साहित्यिक-सांस्कृतिक त्रैमासिक शोध-पत्रिका)

यू.जी.सी. केयरलिस्ट में सम्मिलित पत्रिका (इण्डियन लेंग्वेजेज, क्र.सं. 62)

वर्ष 14, अंक-01 (पूर्णांक-53) मार्च-मई, 2020

सहयोग राशि

वार्षिक
व्यक्तिगत : 300.00 रुपया
संस्थागत : 400.00 रुपया
आजीवन (दस वर्षीय)
व्यक्तिगत : 3000.00 रुपया
संस्थागत : 4000.00 रुपया
सहयोग राशि मीरा स्मृति संस्थान, चित्तौड़गढ़ को नकद/मनीऑर्डर/ चैक/ बैंक ड्राफ्ट द्वारा भिजवाई जा सकती है।

कार्यालय एवं सम्पर्क-सूत्र
मीरा स्मृति संस्थान
मकान नं. 25, फ्रेण्ड्स कॉलोनी,
पार्वती गार्डन के पीछे,
मेंती, चित्तौड़गढ़-312001 (राज.)
मो. 094141-48537,
95115 79037
ई-मेल :
samdanisatya@gmail.com

प्रकाशन-तिथि
25 जून, 2020

संस्थापक सम्पादक
कीर्तिशेष स्वामी (डॉ.) ओम् आनन्द सरस्वती

सम्पादक
सत्यनारायण समदानी

Designed by: उमेश अजमेरा, श्रीजी डॉट कॉम, चित्तौड़गढ़-9829079159

समस्त सम्पादकीय सहयोग अवैतनिक एवं मानद है। रचनाकारों द्वारा व्यक्त विचारों से सम्पादक/प्रकाशक की सहमति आवश्यक नहीं है।
सभी विवाद चित्तौड़गढ़ न्यायाधिकरण क्षेत्र के अधीन होंगे।

Scanned with CamScanner

अनुक्रम

क्र.सं.	आलेख/रचना	पृष्ठ
1.	मीरा-पद 1. सन्त मीराबाई (1) स्याम मिलण ..... (2) म्हारे लागी लगन	05
2.	मीरा प्रशस्ति 2. सुश्री श्रुति कनिटकर, मुम्बई श्री मीरांविंशतिका	06–09
3.	सम्पादकीय 3. सत्यनारायण समदानी, चित्तौड़गढ़ (राजस्थान) शोध का स्तर एवं गुणवत्ता : चिन्तन की आवश्यकता	10–13
4.	मीरा सन्दर्भ पक्ष 4. डॉ. अरविन्दसिंह तेजावत, महेन्द्रगढ़ (हरियाणा) इतिहास और आलोचना ग्रन्थों में मीरां का जीवन : एक पुनर्विचार	14–21
	5. डॉ. उमेश कुमार, अलवर (राजस्थान) हिन्दी सिनेमा में मीरा की लोकप्रिय प्रेमकथा के निहितार्थ	22–29
5.	सन्त-भक्त पक्ष 6. श्री ब्रजेन्द्र कुमार सिंहल, जयपुर (राजस्थान) जाम्भोजी के सबद का निहितार्थ	30–37
	7. डॉ. अमरसिंह वधान, चण्डीगढ़ स्वामी रामचरण जी महाराज की वाणी में ब्रह्म का स्वरूप : सन्दर्भ श्री रामस्नेही सम्प्रदाय	38–49
	8. डॉ. गंगाप्रसाद बरसैंया, इन्दौर (मध्यप्रदेश) जूड़ीराम : सन्त साहित्य की नवीन उपलब्धि	50–52
	9. श्री रामसिंह चूण्डावत, कपासन (राजस्थान) राजस्थान के प्रमुख लोक सन्त-भक्त कवियों का अनुभूति पक्ष	53–57

Scanned with CamScanner

6. दर्शन पक्ष

10. डॉ. अनिल कुमार पासवान, दरभांगा (बिहार)
जैन दर्शन में शिक्षा का स्वरूप — 58–61

7. ग्रन्थ/रचनाकार पक्ष

11. डॉ. (श्रीमती) श्रद्धा चन्द्राकर एवं
श्री राकेश कौशल, भिलाई (छत्तीसगढ़)
छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य में लोकगाथा : चंदैनी — 62–66

12. डॉ. आभा गुप्ता ठाकुर, वाराणसी (उत्तरप्रदेश)
जयशंकर प्रसाद के नाटकों में
पर्यावरण चेतना और पारिस्थितिकी — 67–71

13. डॉ. बजरंग चौहान, कर्विअंगलंग (असम)
कथा सतीसर में कश्मीरी पंडितों का विस्थापन — 72–75

14. डॉ. मनीषा प्रकाश, प्रयागराज (उत्तरप्रदेश)
अर्थशास्त्र में दुर्ग प्रबन्धन — 76–79

15. श्री नर्मदाप्रसाद उपाध्याय, इन्दौर (मध्यप्रदेश)
बिब्लोथिक नेशनल पेरिस :
भारतीय ग्रन्थों का अद्‌भुत संग्रहालय — 80–83

8. इतिहास/पुरातत्व पक्ष

16. महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
कवि राजशेखर का समय — 84–88

17. श्री ओमप्रकाश शर्मा 'कुकी', बून्दी (राजस्थान)
बून्दी-भीलवाड़ा के पठारों-पहाड़ों, नदियों में पाये
गये शैलचित्रों का विराट संसार — 89–92

9. कला-संस्कृति पक्ष

18. डॉ. उर्मिला शर्मा, केकड़ी, जिला अजमेर (राजस्थान)
अजमेर के जैन मन्दिरों की मूर्तियों के अल्पज्ञात लेख — 93–101

19. श्री धर्मजीत कौर, जयपुर (राजस्थान)
नागौर क्षेत्र के प्रतिहार काल के विष्णु मन्दिर — 102–105

10. समीक्षण पक्ष — 106–107

20. प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी, लाडनूँ (राजस्थान)
महाप्रज्ञ के जीवन वैशिष्ट्य को उकेरती कृति : अन्तर्यात्रा एक योगी की — 108–111

11. पाठक-दीर्घा

Scanned with CamScanner

छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य में लोकगाथा - 'चँदैनी'

- डॉ. (श्रीमती) श्रद्धा चन्द्राकर एवं राकेश कौशल

लोकसाहित्य लोकजीवन की अभिव्यक्ति है। वह जीवन से घनिष्ठता से संबंधित है। लोकसाहित्य एक पारिभाषिक शब्द है जो लोक तथा साहित्य से मिल कर बना है। लोकसाहित्य का अभिप्राय उस साहित्य से है जिसकी रचना लोक करता है। लोकसाहित्य उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव। इसलिए उसमें जन-जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग,प्रत्येक समय और प्रकृति सभी कुछ समाहित है।लोकसाहित्य वह लोकरंजनी है, जो सर्वसाधारण समाज की मौखिक रूप में भावमय अभिव्यक्ति करता है। सृष्टि के विकास के साथ ही लोकसाहित्य का उद्‌भव माना गया है। इस प्रकार लोकसाहित्य मानव समाज के क्रमिक विकास की कहानी हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। लोकसाहित्य, वर्तमान उन्नत एवं कलात्मक साहित्य का जनक है। आज का सुसंस्कृत एवं परिष्कृत साहित्य व्यक्ति की महत्ता को स्वीकार करता है, लोकसाहित्य जनता जनार्दन को ही अपना प्रभु मानता है। उसमें किसी का व्यक्तित्व नहीं झलकता अपितु उसमें समस्त समाज की आत्मा मुखरित होती है। इसी कारण लोकसाहित्य के रचयिताओं अथवा कवियों का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। पंडित रामनरेश त्रिपाठी लिखते हैं, "जिस तरह वेद अपौरुषेय माने जाते हैं उसी तरह ग्रामगीत भी अपौरुषेय हैं।"[1]

लोकसाहित्य के विषय में पाश्चात्य विद्वानों का मत कुछ एकांगी-सा रहा है। प्रो. चाइल्ड, श्री फिटरेज,सिजविक तथा गुमेर जैसे विद्वानों ने लोकसाहित्य का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए इसे मनुष्य की आदिम अवस्था की अभिव्यक्ति समझा है तथा असंस्कृत समाज का एक विषय माना है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप पाश्चात्य देशों में 'लोकसंस्कृति', 'लोकसभ्यता' इत्यादि शब्दों का जन्म हुआ। 'लोक' (फोक) शब्द का अर्थ गाँवों अथवा वनों में रहने वाले गंवार तथा असंस्कृत समाज के रूप में प्रयुक्त होने लगा। भारतवर्ष में भी लोकसाहित्य के अध्ययन के विषय में कुछ लोगों की प्रवृत्ति उपर्युक्त प्रकार की है। यह अंधानुकरण है। वास्तव में हमारे देश की परिस्थिति सर्वथा भिन्न है। नगर और गाँव के जीवन में जो विशाल अन्तर पाश्चात्य देशों में मिलता था, वैसा अन्तर भारत में कभी नहीं रहा। हमारा 'लोक' पाश्चात्य देशों का 'लोक'नहीं है अपितु देश की समूची संस्कृति एवं सभ्यता ही हमारी लोक-संस्कृति एवं लोक-सभ्यता है। अतः आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन अत्यंत युक्तिसंगत है कि "लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई समूची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं।"[2]

लोकसाहित्य में जहाँ देश के भौगोलिक चित्र और धार्मिक जीवन का व्यापक रूप देखने को मिलता है तो वहीं समाज के आर्थिक-स्तर का भी विधिवत ज्ञान प्राप्त होता है। लोकसाहित्य में साधारण ग्रामीण समाज का खानपान, रहन-सहन तथा रीति-रिवाजों इत्यादि का परिचय मिलता है। "लोकगीतों की माता सोने के कटोरे में ही शिशुओं को दूध-भात खिलाती है। नायिकाएँ दक्षिणी चीर, चन्द्रहार, बाजूबन्द और माँग टीका पहनती हैं । भोजन में बासमती चावल, मूंग की दाल,पूड़ी,पूआ और छत्तीस रकम की चटनी परोसी जाती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकसाहित्य के द्वारा समाज की आर्थिक अवस्था से

Scanned with CamScanner

हम भली-भांति परिचित हो सकते हैं।"[3] लोकसाहित्य में विषयवस्तु को प्रस्तुत करने का माध्यम लोकगीत, लोकगाथा, लोकनाट्य, प्रहसन, शैल उत्करण, भित्तिचित्र आदि हैं। जो प्रसंग ऐतिहासिक ग्रंथों में प्राप्त नहीं होते अथवा विलुप्तप्रायः हैं वे सहज रूप में लोकसाहित्य में मिल जाते हैं। इतिहास की टूटी शृंखला को जोड़ने वाली कड़ियों में से एक है लोकसाहित्य।

लोकसाहित्य में अभिव्यक्ति की एक विधा लोकगाथा है। इसमें किसी एक व्यक्ति के जीवन का सांगोपांग वर्णन रहता है। वस्तुतः लोकगाथा एक कथात्मक गीत होती है। इसका विस्तार बहुत बड़ा होता है। कोई-कोई लोकगाथा तो हफ्तों में जाकर समाप्त होती है। लोकगाथा को केवल मनोरंजन के दृष्टिकोण से नहीं देखा जा सकता, न ही लोकगाथा को कोरी कल्पना कहना उचित है बल्कि उसमें कहीं ना कहीं सच्चाई छुपी होती है। जनसमुदाय के बीच उठते-कौधंते विचार, विषय एवं अनुभाव का समावेश लोकगाथा में होता है। एक व्यक्ति या दल गीत की एक कड़ी कहता है, दूसरा दूसरी कड़ी जोड़ देता है। इस तरह यह क्रम चलता रहता है और गाथा का निर्माण हो जाता है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा लोकसाहित्य एवं लोकगाथा पर विभिन्न मत दिये गये हैं। विद्यानिवास मिश्र के शब्दों में "लोकसाहित्य में किसी भी गीत,कथा या उक्ति का प्रथम दर्शन किसी व्यक्ति को हुआ होगा, पर वह व्यक्ति अपने इस नये साक्षात्कार को सीमित ना करके इसे अपने समूह की संपत्ति बना देने के लिए उतावला हो गया। समूह ने मिलकर उस अनुभाव को अपने अनुभवों का रंग देकर एक विलग अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत कर दिया होगा, उस अभिव्यक्ति के पीछे न केवल अनेक व्यक्तियों का अनुभव और अनुभव का परिष्कार है बल्कि अनेक कंठों का स्वर मेल भी है।"[4]

डॉ. सत्यव्रत सिन्हा ने लोकगाथाओं के विषय में विचार प्रकट करते हुए कहा है कि "लोकगाथाओं में गेयता एवं कथानक का रहना अनिवार्य है। साथ ही इनके रचयिता अज्ञात होते हैं अथवा यों कहा जाए कि लोकगाथाएँ व्यक्तिविहीन होती हैं।"[5] डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय लोकगाथाओं की उत्पत्ति के संबंध में यह लिखते हैं"- हमारी धारणा सर्वदेशीय लोकगीतों अथवा लोकगाथाओं की उत्पत्ति के संबंध में यह है कि प्रत्येक गीत या गाथा का रचयिता मुख्यतः कोई न कोई व्यक्ति अवश्य है। साथ ही कुछ गीत या गाथाएँ जन-समुदाय के प्रयास से प्रचलित हुए हैं। लोकगाथाओं की परंपराएँ सदा से मौखिक रहीं हैं। अतः बहुत संभव है कि गाथाओं के रचयिताओं का नाम लुप्त हो गया हो।"[6] इस कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गाथा की शुरूआत कोई एक करता होगा फिर उसमें लोककथा को अन्य गायक और वाचक बढ़ाते जाते होंगे या जोड़ते होंगे। अतः प्रथम गायक लोकगाथा की सृष्टि कर जनता के हाथों उसे समर्पित कर समुदाय में समाहित हो जाता है। इस तरह लोकगाथा वास्तविकता के रंग में रंगा कल्पना संसार की रचना करता स्पंदित सत्य व अर्धसत्य होता है। उसमें लोककृति की महक भरी होती है। इस दृष्टि से हम लोकगाथा को उपन्यास का पितामह कह दें तो क्या यह अतिशयोक्ति या अत्युक्ति होगी? आखिर उपन्यासकार या कहानीकार भी तो जो कुछ अपने सामाजिक परिवेश में झाँकता है उसे अपनी कलम से सँवारकर निखारता है और ऐसी मनोहारी कथा-सरिता प्रवाहित करता है कि जन-मन उसमें अवगाहित होकर प्रमुदित-प्रफुल्लित होता है। अपने कथानक के माध्यम से साहित्यकार जिस प्रकार समाज को वर्तमान से अधिक अच्छे भविष्य की ओर अग्रसर करता है, उसी तरह लोकसाहित्य का गुमनाम प्रणेता

Scanned with CamScanner

भी अपने समकालीन समाज को गुदगुदाते-हँसाते, खेलते-नचाते, लोरियाँ देते और मुनहार कराते आगे बढ़ाता है।

'चंदैनी' लोरिक एवं चंदा की प्रणयगाथा ही नहीं वरन् एक वीर का गौरव गान भी है। इस गाथा को किसी महाकाव्य से कमतर नहीं आँका जा सकता। चंदैनी के कल्पना लोक से इतना विस्तृत जनसमुदाय जुड़ा है कि यह लोकगाथा छत्तीसगढ़, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, बंगाल में प्रचलित है। इसके साथ-साथ भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि भाषा-भाषीय क्षेत्र में भी इस लोकगाथा का गौरवपूर्ण स्वरूप मिलता है। लोरिक और चंदा की लोकगाथा अन्य लोकगाथाओं से अधिक व्यापक क्षेत्र में गायी जाती रही और वैचारिक एकात्मक संयोजन को रूपायित कर प्रवाहित होती रही। छत्तीसगढ़ में इसे चंदैनी,भोजपुरी में लोरिक या लोरिकायन, मैथिली में लोरिकायन, अवधी में चनैनी, मिर्जापुरी में लोरिक मंजरी, बांग्ला में लोरमयनावती और हैदराबाद में मनसवी किस्सा सतवन्ती कहते हैं।

छत्तीसगढ़ में ही विभिन्न स्थानों में गायी जाने वाली इस गाथा के कथानक में पर्याप्त अंतर पाया जाता है। पात्रों के नामों में भी समानता नहीं है। कुछ लोग इस घटना को सुदूर अतीत में आरंग महानदी के आसपास घटित मानते हैं तो कुछ लोग इसे उत्तरप्रदेश अथवा बिहार से मान कर चलते हैं। जो भी हो जिस प्रकार ढोला मारु और चरणदास चोर की कथा राजस्थान की होकर भी छत्तीसगढ़ की अपनी लोकप्रिय कथा बन गई है, ठीक उसी प्रकार इस लोरिकचंदा की चारित्रिक विशेषताओं को प्रतिबिंबित करने वाली इस नृत्याभिनीत लोकगाथा को बिना किसी मीन मेख के पूरे छत्तीसगढ़ में देखा और सुना जाता है। जिस प्रकार पांडवों की गाथा गाने वाले 'पण्डवानी' गायक कहलाते हैं। उसी प्रकार चंदा-लोरिक गाथा के साथ भावपूर्ण नृत्याभिनीत करने वाले लोगों को 'चन्दैनी'-नृत्य गायक कहते हैं। छत्तीसगढ़ी अहीर समाज में अपने बाँस गीतों के माध्यम से लोरिक की वीरोचित गाथा लोरिकायन के अनेक प्रसंग सुनने को मिले- जैसे संवरु का विवाह, लोरिक से मंजरी का विवाह, लोरिक का विवाह चंदा से। सभी प्रसंगों में लोरिक वीरता का अवतार एवं लोकरक्षक निरूपित हुआ है। चंदा के साथ उढ़ार जाने वाले प्रसंग में वह उत्कृष्ट प्रेमी है। आल्हा गाने वाले भी इन्हीं प्रसंगों को तम्बूरा, एकतारा, करताल,ढोलक, मंजीरा के साथ अपनी परम्परा के अनुसार गाते हैं जिसे ये भी लोरिक की कथा या लोरिकायन कहते हैं।

चंदैनी की कथा में लोरिक के चरित्र की प्रधानता है। इस कथानक की नायिका के नाम पर इस लोकगाथा का नामकरण हुआ है। छत्तीसगढ़ी में इस लोकगाथा को प्रेमाख्यान गीतगाथा की श्रेणी में माना जाता है। किन्तु गायन में यह वीरगाथा लोरिक की विजय-पराजय के साथ भावनात्मक एकता को भी उद्धृत करती है। यादव वर्ग ने अपने जीवन के अनुभव को, जीवन के संघर्ष को इस गाथा में समाहित कर दिया है। यादव वर्ग के पूर्वज कृष्ण माने जाते हैं। अन्त में चंदैनी में यादवों ने लोकरंजक व वीर रसात्मक भावों को समाहित किया है। कृष्ण जिस तरह स्त्रियों के उद्धारक रहे वैसे ही लोरिक को भी वीर पुरुष, नारी रक्षक व उद्धारक के रूप में महिमामंडित किया गया है। लोरिक लोकचरित्र के प्रतीक के बहाने दुष्ट प्रवृत्ति के व्यक्तियों का दमन करता है। लोरिक गरीब के घर में जन्म ले कर भी अपने क्रांतिकारी विचारों, अपने धीरवीर क्रिया-कलापों एवं अपने अलौकिक साहस से जनसमूह को चकित कर देता है।

लोरिक की वीरता भारत की मध्ययुगीन वीरता को समेटे हुए है जिसमें विवाह, युद्ध, शृंगार एवं

Scanned with CamScanner

सामाजिक सुधार का अनोखा विधान है। वीरता का यह स्वरूप है कि चंदा अपने पिता के घर से पति बीरबावन के घर जाती है। बीरबावन गउरा के निवासी हैं। जाते समय मार्ग में खलबंठवा उससे छेड़खानी करता है। लोरिक वहाँ सहायता के लिए आ जाता है और बंठवा से चंदा की रक्षा करता है। लोरिक-बंठवा की लड़ाई में लोरिक की वीरता देखकर चंदा अद्वितीय लोरिक पर मुग्ध हो जाती है। अनेक पौराणिक एवं ऐतिहासिक उदाहरण भरे पड़े हैं जिसमें कथानक की नायिकाएँ वीर पुरुषों के शौर्य की गाथा सुनकर उनके प्रति आकर्षित हुई हैं और मन ही मन उन्होंने अपना एक सपना संजो लिया। लोरिक को इन लोकगायकों ने ईश्वरत्व की श्रेणी में स्थापित न कर मानवीय गुणों से युक्त बताया है। इसलिए चंदा लोरिक की वीरता से प्रभावित होकर उससे प्यार करती है। प्यार एकांगी नहीं है। इधर लोरिक भी रात में रस्सी के सहारे चढ़कर चंदा के कक्ष में पहुँचता है। बीच-बीच में हँसी ठिठोली को भी समाहित किया गया है। लोरिक जब रस्सी के सहारे चढ़ने के लिए तैयार रहता है तो चंदा पहले तो उसे चिढ़ाती है, पर बाद में उसे ऊपर चढ़ा लेती है। प्रेमिका और प्रेमी की लुका-छिपी, मान-मनौवल एवं ठिठौली दर्शनीय है। चंदा-लोरिक से मिलने पर समाप्त नहीं हो जाती वरन् जीवनभर साथ निभाने का वादा करा लेती है। लोरिक जब वापस जाता है तो पगड़ी के बदले भूल से चंदा की साड़ी लपेटकर घर चला जाता है। वहाँ ज्ञात होने पर धोबी के द्वारा कपड़े बदल जाने की बात कहने पर स्थिति सम्हलती है। इसी प्रकार एक और उदाहरण मिलता है- जब चंदा यौवन की देहरी पर कदम रख चुकी है। होली के त्यौहार पर गाँव के युवकों से उसका सामना हो जाता है। चंदा उन पर परात का पानी फेंकती है। युवक भी उस पर घड़े का पानी फेंकते हैं। पानी के थपेड़े चंदा के वक्ष पर पड़ते हैं। चंदा खिसयायी हुई माँ से शिकायत करती है। उसकी माँ लोरिक को ताना मारती है कि यदि उसमें वीरता है तो बड़े भाई का विवाह करवा ले और भाभी ले आये और अपनी नई-नवेली भाभी से होली खेले। गाँव की बहन-बेटियों से क्यों छेड़ के खेल-खेलता है। यह बात लोरिक के हृदय में बस जाती है। लोरिक अपने बड़े भाई संवरु का विवाह उसी गाँव की सतिया से करवाता है।

चंदैनी वीरता तथा शृंगार प्रधान लोकगाथा है। अनिंद्य सुंदरी चंदा लोरिक की वीरता से प्रभावित होकर उससे प्रेम करने लगती है। इस विषय पर सत्यव्रत सिन्हा के विचार उद्धरित हैं-"लोरिक के जीवन का एक अन्य रूप है उसका प्रेमी रूप। वह एक सफल प्रेमी है। वह किसी नायिका से प्रेम की याचना नहीं करता, अपितु उसकी वीरता को देखकर चंदा उसके ऊपर मोहित हो जाती है।"[7]

प्रेम की प्रगाढ़ता के साथ लोरिक और चंदा एक दूसरे के लिए सब कुछ त्याग कर, गाँव छोड़कर हरदीगढ़ के लिए चल देते हैं। लोरिक के जीवन का व्रत है, लोकरंजन एवं लोकसेवा। वीर लोरिक कर्म में रत रहता है, उसका एक हाथ हमेशा तलवार पर होता है। चंदा और लोरिक जब हल्दी राज्य के लिए भाग निकलते हैं तब उन्हें ज्ञात है कि अभी संघर्ष एवं विरोध झेलना पड़ेगा। मार्ग में उसका भाई संवरु रोकता है परन्तु वह नहीं रूकता। वीर वाहन उनका पीछा करता है परन्तु वह लोरिक को नहीं मार पाता। मार्ग में लोरिक को साँप काट लेता है किन्तु महादेव - पार्वती की कृपा से वह पुनः जीवित हो उठता है। आगे चलकर चंदा के विवाहित पति बीरबावन और लोरिक के मध्य युद्ध होता है। अन्ततः लोरिक विजयी होता है। इस प्रकार प्रेम और वीरता की विजय होती है। लोरिक की वीरता से महुअर का राजा प्रभावित होकर अपना आधा राज्य लोरिक को देता है। लोरिक और चंदा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते है।

Scanned with CamScanner

चदैनी में लोरिक भारतीयता से ओत-प्रोत वीर पुरुष का प्रतिनिधित्व करता है। लोरिक का जीवन उच्च आदर्शों से भरा हुआ है साथ ही उसमें मानवगत कमजोरियाँ भी हैं जो उसे देवत्व ना प्रदान कर मनुष्यत्व से युक्त रखती हैं। चदैनी लोकगाथा में लोरिक को आदर्श प्रेमी, वीर पुरुष और नारी रक्षक के रूप में महिमा मंडित किया गया है। उसका लोकसेवक, लोकरंजक, संघर्षशील स्वरूप प्रेरणादायी एवं अनुकरणीय है। लोरिक उच्चाकांक्षी था। लोरिक के जन्म को अवतार के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

लोरिक-चंदा लोकगाथा की जीवंत परंपरा आज भी छत्तीसगढ़ में विद्यमान है। चदैनी लोकगाथा में पर्व के आयोजन और गाथा के आयोजन की केलि है। सामुदायिक अस्मिता के साथ वीरगाथा गान, लोक-विश्वास और मान्यताएँ समाविष्ट हैं। चदैनी में किसी भी रूप में जीवन से पलायन नहीं है बल्कि नई ऊर्जा के साथ जीने की कला का समावेश है। इसका वाचिक प्रारूप कब तक कायम रह पायेगा यह एक बड़ी चुनौती है। यादव जाति इस गौरव-गाथा को जीवन के उच्च आदर्श के रूप में हमारे सम्मुख रखती है। निरंतर बदलाव के इस युग में इस लोक जीवन युक्त गाथा के बिखरने और इसकी अन्तरात्मा के लुप्त हो जाने का भय है। किन्तु हमें यह स्वीकार करना होगा कि परिवर्तन और स्वांगीकरण लोकसंस्कृति की सहज वृत्ति में शामिल है। इसका नया रूप इस परम्परा को लेकर किस रूप में विकसित हो रहा है और होगा, इस पर विचार करना है । अतः दृश्य एवं श्रव्य माध्यम से इस विधा को संरक्षित करना होगा। इस दृष्टि से कुछ प्रयास किये जा रहे हैं। इसमें अश्लीलता का समावेश ना हो, इस पर भी ध्यान देना होगा।

संदर्भ:-

1. त्रिपाठी, पं.रामनरेश, ग्राम साहित्य ,जनपद पत्रिका, अक्टूबर 1952,पृ.11
2. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद; लोकसाहित्य का अध्ययन,जनपद पत्रिका, अक्टूबर 1952,पृ.65
3. सिन्हा,सत्यव्रत, भोजपुरी लोकगाथा, भूमिका से
4. मिश्र, विद्यानिवास, लोक और लोक का स्वर, पृ.83
5. सिन्हा, सत्यव्रत, भोजपुरी लोकगाथा, पृ.6
6. उपाध्याय, डॉ. कृष्ण देव, भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन,पृ.467
7. सिन्हा,सत्यव्रत, भोजपुरी लोकगाथा,पृ.96

- C/o श्री जे.झा
एम.आई.जी. - 2, 492, हुडको
भिलाई (छत्तीसगढ़)-490009

मीरायन तथा मीरा स्मृति संस्थान के
पत्र व्यवहार का नया पता एवं सम्पर्क सूत्र
मकान नं. 25, फ्रेण्ड्स कॉलोनी, शिवशक्ति नगर के पास
पार्वती गार्डन के पीछे, बापूनगर (पूर्व)
सेंती, चित्तौड़गढ़-312001 (राज.)
मो. 094141-48537 ई-मेल : samdanisatya@gmail.com

Scanned with CamScanner

3.3 2016-17

ISSN - 0973-1628

सिंहस्थ
कुम्भ पर्व (सिंहस्थ) 2016
22 अप्रेल - 21 मई, 2016

श्रद्धालुओं के स्वागत
को तैयार उज्जैन

आस्था और [illegible]
क्षिप्रा के तट पर [illegible]

146

Issue - 146, Vol-XV (3), May - 2016
www.researchlink.co

आस्था के जन-सैलाब को
श्रद्धा सहित समर्पित....

Mob. 93297-03612
सत्यभामा देशमुख
मकान नंबर 1-सी, स्ट्रीट नंबर 73,
सेक्टर 6,
भिलाई (छत्तीसगढ़) - 490006
भिलाई (छत्तीसगढ़)

5

533 / 143

An International Registered and Referred Monthly Journal

Impact Factor 2015
2.782

RESEARCH

Kala, Samaj Vigyan awam Vanijya

Link

::CIRCULATION::
Andaman-Nicobar / Bihar / Chattisgarh / Delhi / Goa / Gujarat / Haryana / Himachal / Jammu & Kashmir / Karnataka / Madhya Pradesh / Maharashtra / Punjab / Rajasthan / Sikkim / Uttar Pradesh / Uttranchal / West Bengal

Scanned with CamScanner

डॉ० श्रद्धा चन्द्राकर

An International, Registered and Referred Monthly Journal - Impact Factor 2.782 (2015)

ISSN No. 0973-1628

रिसर्च -146 लिंक

• वर्ष- XV (3)
• मई - 2016

(कला, समाजविज्ञान एवं वाणिज्य)

सम्पादक
डॉ.रमेश सोनी

विधि-विशेषज्ञ एवं सलाहकार
डॉ.अनिल पारे (पूर्णतःऑनररी)

सहयोग
डॉ.वीणा चौबे, डॉ.मोहम्मद इम्तियाज़ अहमद

प्रचार-प्रसार एवं विज्ञापन
विशाल राजौरिया

सम्पादकीय/प्रबन्ध-प्रकाशन कार्यालय
81, सर्वसुविधा नगर एक्सटेंशन, बंगाली चौराहे के पास, कनाड़िया रोड़, बैंक ऑफ महाराष्ट्र के पीछे, इन्दौर - 452016
मोबाइल नं. 099264-97611
094253-49611 एवं 098260-75077

e-mail address :
researchlink@yahoo.co.in
researchlink@ymail.com

एक प्रति : ₹ 250/-

संस्थागत शुल्क
वार्षिक : ₹ 3000/- (रुपये तीन हजार केवल)
(डी.डी.शुल्क अतिरिक्त)

व्यक्तिगत-शुल्क
वार्षिक (चार अंक) ₹ 1500/- (रुपये पंद्रह सौ केवल)

❖ सदस्यता फॉर्म एवं नियमावली अंक के अंतिम पृष्ठ पर देखें।
❖ रिसर्च लिंक का प्रकाशन-प्राध्यापकों का, प्राध्यापकों के द्वारा, प्राध्यापकों के लिए - एक अव्यावसायिक सहयोगी प्रयास।
❖ सम्पादन, सम्पादन-सहयोग, प्रकाशन एवं संचालन अवैतनिक।
❖ देश अथवा विदेश के किसी भी विश्वविद्यालय अथवा शोध कमेटी द्वारा 'रिसच लिंक' में प्रकाशित शोध-पत्रों के मान्य न किए जाने की स्थिति में प्रबंधन की कोई जवाबदारी नहीं होगी।
❖ 'रिसर्च लिंक' का अंक वेबसाइट पर, प्रत्येक माह की 05 तारीख को अपलोड किया जाता है,जिसे आप निःशुल्क डाउनलोड कर सकते हैं।
❖ सदस्यों को 'रिसर्च लिंक' की प्रति, प्रत्येक माह की 15 तारीख को साधारण डाक द्वारा भेजी जाती है। किसी भी कारण से अतिरिक्त प्रति प्राप्त करने के लिए ₹ 300/- रुपये का बैंक ड्राफ्ट भेजना होगा।
❖ रिसर्च लिंक' संबंधी सभी विवाद केवल इन्दौर न्यायालय के अधीन होंगे।

सम्पादकीय

सिंहस्थ : आस्था का जन-सैलाब ! 'मई दिवस' उदास, जैसे क्रांति का टूटा ख्वाब !!

मई की दोपहर
जैसे कर्फ्यू में / कोई घिग्घी बँधा शहर
बाहर-भीतर आग,
ऊपर से 'लू' के थपेड़े।
मरने-मारने पर आमादा हवा को कौन छेड़े॥
हरे पत्ते जले-झरे,
दरख्त खड़े / नंगे-बेमन।
आदमी की क्या बिसात, काले हुए हिरण॥

....मई की दोपहर। जैसे मिल जाए अकेले में कोई
खुला चाकू लिए जिलाबदर॥
भूखे-प्यासे गाँव, पशु,
मेड़, खेत।
थरथराती तुलसी / सूखा पीपल/ नदी हुई रेत॥

....मई की दोपहर।
जैसे 'सिंहस्थ' में क्षिप्रा तट
मुक्तिधाम में औघड़ का... कंपाता स्वर / हर-हर....॥
एक तरफ आस्था का सैलाब।
दूसरी तरफ बीता 'मई दिवस' जैसे टूटा क्रांति का ख्वाब॥

'रिसर्च लिंक' का प्रस्तुत अंक-146, माह मई 2016, पन्द्रहवें वर्ष का तीसरा अंक है। हमारे देश में सिंहस्थ को जनभाषा में महाकुंभ कहा जाता है। यह महाकाल की कृपा है कि हर बारह वर्ष के अंतराल में संपन्न होने वाला महापर्व, इस बार मई की तपती दोपहर में हो रहा है। यह सिंहस्थ विशिष्ट संयोग लेकर अपने साथ आया है। 5118 वर्ष बाद सिंहस्थ के दौरान सिद्ध अमृत योग का संयोग बनता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार भी यह विशिष्ट अवसर और इसका लाभ उज्जयिनी नगरी को मिल रहा है।

21वीं शताब्दी के दौर में घटित होने वाला महापर्व आश्चर्यचकित कर देने वाला है, क्योंकि जन आस्था के सैलाब को कोई नियंत्रित नहीं करता। यदि करता भी है, तो नियंत्रण हटाने को बाध्य हो जाता है। इस दौर में उज्जैन मिनी भारत का आकार ग्रहण कर लेता है, जिसमें न कोई वर्ग भेद है, न जाति भेद है, न कोई मजदूर है, न कोई मालिक है, न कोई विशिष्ट या अति-विशिष्ट है। सभी के मन की एक ही लालसा होती है कि वे क्षिप्रा में डुबकी लगा लें। जन-आस्था का उमड़ा हुआ सैलाब इस बात को भी सिद्ध करने के लिए काफी है कि हमारा महान राष्ट्र किन-किन अदृश्य शक्तियों, प्रेरणाओं, आस्थाओं, भक्ति भावनाओं और लोक स्वीकृति के आधार पर चल रहा है। अनेकता में एकता का भी यह सशक्त आश्चर्यजनक सच है, जो सच आँखों के सामने घटित हो रहा है। परम पिता परमेश्वर, जो सृष्टि के समस्त जड़-चेतन को संचालित कर रहे हैं, यह उनकी ही हम पर असीम कृपा है कि इस बहाने अनेक जाने-अनजाने जन-सैलाब, गुरुओं, शोध-छात्रों की सेवारत, यह छोटा सा प्रयास श्रद्धा सहित समर्पित है। प्रार्थना है आस्था का महापर्व निर्विघ्न संपन्न हो। पूरे समाज के लिए आनंददायी और कल्याणकारी सिद्ध हो।

❁❁ ❁ डॉ. रमेश सोनी

Scanned with CamScanner

2016-17

An International, Registered & Referred Monthly Journal : Research Link - 146, Vol - XV (3), May - 2016, Page No. 57-58
ISSN - 0973-1628 ■ RNI - MPHIN-2002-7041 ■ Impact Factor - 2015 - 2.782
Hindi Literature

लोक साहित्य का बदलता परिदृश्य

प्रस्तुत शोधपत्र, लोक साहित्य के बदलते परिदृश्य को लेकर लिखा गया है। यूं तो लोक साहित्य आदिकाल से जन-जीवन, संस्कृति, संस्कार और आस्थाओं पर आधारित है। इसमें सोलह संस्कारों से लेकर लोक-जीवन की सशक्त एवं जीवंत अभिव्यक्ति इसकी विशेषताएँ रही हैं, किन्तु 21 वीं शताब्दी के इस बदलते क्रांतिकारी, सामाजिक परिदृश्य में लोक-साहित्य ने भी करवट बदली है। इसमें भी आंचलिक जीवन और संस्कृति तथा शहरी एवं महानगरीय दोगली जीवन की अभिव्यक्ति सम्मिलित हो गई है। इसके कथ्य एवं शिल्प में भी क्रांतिकारी बदलाव आया है। समय की मांग होने के साथ ही शुभ संकेत है कि साहित्य को भी समय के साथ चलना चाहिए और लोक-साहित्य अपना रास्ता बदल रहा है।

डॉ.श्रद्धा चंद्राकर* एवं श्रीमती तृप्ता कश्यप**

लोकसाहित्य किसी क्षेत्र विशेष के प्रत्येक वर्ग के निवासियों का प्रतिनिधित्व करता है। लोकसाहित्य का सृजन एक व्यक्ति द्वारा किया जाता है, किन्तु वह सपूर्ण लोक का प्रतिनिधित्व करता ह। एक समान खान–पान, जीवन शैली, तीज–त्यौहार क्षेत्र विशेष को पहचान प्रदान करती है। **डॉ. श्याम परमार** के अनुसार 'लोक साधारण जन समाज है, जिसमें भू–भाग पर फैले हुए समस्त प्रकार के मानव सम्मिलित है।' लोक सामूहिक चेतना का स्त्रोत है। इसमें समानता व स्वतंत्रता साथ–साथ चलती है। मानव समुदाय के मानसिक स्वरूप का विश्लेषण करने पर हमें लोक मानस का परिचय मिलता है। यह लोक मानस मानव की सहज सरल वृत्ति है। यही सहजता उसके द्वारा उल्लास में गाए जाने वाले गीतों, कथाओं, गाथाओं में दिखाई देती है। यहीं लोक साहित्य व विशिष्ट साहित्य का जन्म होता है। क्षेत्रीय भाषाएँ लोक संस्कृति व साहित्य की वाहक होती हैं। इस तरह लोक साहित्य अपनी वाचिक परंपरा द्वारा जन–जन में व्याप्त होता जाता है। समूह द्वारा सृजित ये साहित्य गीतों, कथाओं का प्रसार कलाकार की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति की श्रेष्ठ कला द्वारा प्रसिद्ध हो जाते हैं। जीवों की उत्पत्ति से ही भावना इसकी उत्पत्ति मानी गई है। स्नेह, करुणा, वात्सल्य, श्रृंगार, क्रोध, वीर, भक्ति आदि की अभिव्यक्ति हर जीव करता है। पुराने समय में सामूहिक कार्य अधिक होते थे। कार्य की थकान को दूर करने के लिए गीतों, कथाओं का गायन आरंभ हुआ होगा। गीतो में छाई मस्ती, शौर्य के भाव कामगारों को नई ऊर्जा प्रदान करते थे। विभिन्न शैल चित्रों में मिले समूह नृत्य के चित्र पुराने समय की कलाप्रियता को अभिव्यक्त करते हैं। आधुनिकता से दूर वनवासी व आदिवासी अभी भी उसी तरह के गीतों व नृत्यों का अनुसरण करते हैं। वर्तमान समय मे गीतों, कथाओं का स्वरूप बदल गया है। चूकि रस शाश्वत हैं, इसलिए गीतों, कथाओं का भाव यही है। डॉ. नामवर सिंह ने शिष्ट साहित्य के मूल में लोक साहित्य की स्थिति को बड़ी निष्ठा से स्वीति देते हुए कहते हैं 'पिछले पद्रह वर्षों में हिन्दी कविता मे जिस वेग से लोक भाषा का प्रभाव बढ़ रहा है वह संत भक्ति काव्य के बाद कभी दिखाई नहीं पडा।" (अग्रवाल डॉ.अनुसूया, पृ. 33, छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य अर्थ और व्याप्ति) इसी तरह शिष्ट साहित्य के विचारों लय–विधान शब्दावलियों को लोक साहित्य भी ग्रहण करता है। साहित्य व लोकतत्व जीवन रुपी रथ के दो चक्र हैं और इनका संतुलन जीवन को सहज व सरल कर देता है। वर्तमान युग में अभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यम उपलब्ध हैं, जैसे आकाशवाणी, दूरदर्शन, दैनिक समाचार पत्र–पत्रिकाएं, टेलीफोन, मोबाइल, इंटरनेट में ई–पत्रिकाएं, ब्लाग, ट्विटर, फेसबुक, व्हाट्स अप आदि। इसने साहित्य को तीव्रगामी बना दिया। शिक्षित समाज अपनी सहजता, सरलता को अपने अंतस्थल में तलाशता है।

अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए वह अपनी मातृभाषा का सहारा लेता है, किन्तु उपयुक्त शब्द उसे नहीं मिलते हैं, क्योंकि अपनी मातृभाषा की गहराई तक वह कभी नहीं गया। वर्तमान की भाषा समय के साथ तेजी से बदल रही है। वैश्विक हो रही है। इसके बीच भी लोक साहित्य अपने चिरंतन सौम्य रूप में विराजित है। लोक साहित्य अपनी अभिव्यक्ति के माध्यमों से गतिमान हो गया। तीव्रगति के युग में भाषा भी विभिन्न भाषाओं से शब्द लेकर समृद्ध हो रही है। छत्तीसगढ़ी साहित्य के विकास में हिन्दी, संस्त, अवधी, भोजपुरी, उड़िया, मराठी साथ ही साथ अंग्रेजी के शब्द भी योगदान दे रहे हैं। वर्तमान पीढ़ी अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा ग्रहण कर रही है, अतः वहाँ के रीति–रिवाजों व परंपराओं से भी परिचित हो रही है। विभिन्न स्थानों, प्रदेशों, देशों के संस्कारों, रीति– रिवाजों से अपनी तुलना कर रहे हैं। इससे उनका ज्ञान भी बढ़ रहा है, साथ ही स्वय के गौरव का अनुभव भी

**शोध-निर्देशक, वि.या.ता.स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दुर्ग (छत्तीसगढ़)*
***शोधार्थी, वि.या.ता.स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दुर्ग (छत्तीसगढ़)*

Scanned with CamScanner

हो रहा है। अपने गौरवशाली इतिहास से परिचित होकर आज की पीढ़ी अपनी भाषा पर गर्व से सृजन कर रही है। तीव्रगति, ध्वनि आदि सब आज इक्कीसवीं सदी की पहचान बन गई है। युवा मन इसमें मस्त है। इसी मस्ती में गंभीरता, धैर्यता छूट रही है। इसका प्रभाव डिप्रेशन के रूप में दिखाई दे रहा है। आज के गीत, कहानियों, लेखों, नाटकों आदि में पारिवारिक, व्यक्तिगत, सामाजिक परेशानियों से जूझता मनुष्य दिखाई देता है। अपने आपको कहीं पर स्थिर करने का संघर्ष दिखाई देता है।

पूर्व में संयुक्त परिवार समूह में कार्य होते थे, जो अब एकल परिवार व कम्प्यूटर में काम करते एकल व्यक्ति में टूट चुके हैं। तब जो भावनात्मक संबल परिवार से प्राप्त होता था, वह अब पीछे छूट गया है। समूह के नाम पर क्लब बन गये हैं। ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा के युग में व्यक्ति स्वार्थी हो गया है। इसी स्वार्थपरता का प्रभाव सभी स्थानों पर दिखाई दे रहा है। मेरा गीत हिट होना चाहिये, इसके लिए किसी भी सीमा को लांघना पड़े, तो लांघ लो। इस तरह की स्पर्धा ने मानव के शांत मन को उद्वेलित कर दिया है। अपनी पहचान की तलाश में लोग भटक रहे हैं। तत्काल निर्णय व तत्काल विचार शीघ्रता से समाज में प्रसारित हो जाते हैं। इसके अच्छे व बुरे दोनों परिणाम आ रहे हैं। साहित्य एक लिखित दस्तावेज हैं, जो वर्तमान का सजीव वर्णन करते हैं। साथ ही इसकी जिम्मेदारी भी है, कि वह समाज को सही व गलत का निर्णय करने का विवेक भी प्रदान करे। इसका सृजन करते समय प्रत्येक व्यक्ति को जागरूक होना होगा। सही शब्दों का चयन कर उचित तथ्यों से समाज को परिचित करावे। किसी ने ठीक ही कहा है 'बातन हाथी पाईये बातन हाथी पांव' अर्थात् आप अपनी श्रेष्ठ वाणी, सुगठित वाक्य रचना व हाव भाव से हाथी को पुरस्कार में पा सकते हैं। यदि उचित समय का ध्यान नहीं किया, तो हाथी के पैरों तले कुचल देने के दंड के भागीदार भी हो सकते हैं। परिवर्तन के शाश्वत नियम को शिरोधार्य करते हुए हमें अपने लोक साहित्य के साधकों को मनोवैज्ञानिक–भावनात्मक संबल प्रदान करें। साथ ही विपरीत परिस्थितियों को कैसे ठीक करें, इसका विवेक भी जागे, इस दिशा में भी कार्य करने की आवश्यकता है। नवसाधकों को मार्गदर्शन लेने के लिए आज कई मंच उपलब्ध हैं। वृहद साहित्य इंटरनेट पर उपलब्ध है। इन सभी का अधिकतम प्रयोग करके स्वयं को परिमार्जित करें। लोक साहित्य के सांचे में 'सर्वजन हिताय' के मूलमंत्र को सहेज कर नव साहित्य सृजन हो। समय की मांग के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में हम प्रगति करें। हर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की विशिष्ट आभा को साहित्य में बिखेरे। शाश्वत मूल्य,भाव, रस सदा रहे हैं व सदा रहेंगे। देशकाल परिस्थितियां अपने प्रभाव से इसे शिष्ट बनाती हैं। सृजन धर्म में लगे लेखक कवि, बदलाव को स्वीकार करें, किन्तु व्यक्ति, जाति व देश सम्मान को सुरक्षित रखने का उत्तर दायित्व भी वहन करें।

सन्दर्भ :

(1) अग्रवाल डॉ अनुसूया, छत्तीसगढ लोकसाहित्य अर्थ–और व्याप्ति, पृष्ठ 33.

Scanned with CamScanner

Indian J. Soc. & Pol. 04(03):2017:43-48
Special Print Issue 2017

ISSN: 2348-0084(PRINT)
UGC Journal List No 47956

CONSTRUCTIVISM IN THE ERA OF TECHNOLOGICAL SINGULARITY

TRIPURESH PATHAK[1]

[1]Research Scholar, Department of Political Science, University of Allahabad, U.P. INDIA

ABSTRACT

This article aims to study the concept of Singularity, its nature and impact on human life; and focuses on the connection between Singularity and approach of Constructivism. Singularity refers to the stage where artificial intelligence exceeds human intelligence. It can also refer to the exponential development in technology that will cause a sort of great disruption. Constructivism focuses on the inter-subjective meaning of reality created due to interaction of number of players and institutions. The paper contends that the technological explosion will create a sort of crisis for the human identity which will make the dimension of construction and modulation of reality by human groups even more important. The Singularity has the potential to create the most powerful 'other' for the entire human race after the dawn of agricultural revolution. This can probably help us to transcend all the divisive barriers and identify with the common elements that connect the human race. The paper also briefly evaluates the impact of singularity on the contemporary economic structure.

KEY WORDS: Singularity, Artificial Intelligence, Human Intelligence, Technological Disruption, Constructivism, Reality Structure, Chaos, Machine Era, Other, Unified Self.

INTRODUCTION

The relation between Science and Politics extends back to the earliest days of human civilization. The technology is closely related with science as it is more or less an application of science to suit our needs and requirements. The rise and fall of civilizations had much to do with the process of spread and arrest of technological advancement. The technological advancement in military sector had great role in establishment of great empires. The heights of architectural engineering and Chemistry of Egyptian Civilization, the knowledge of medicine and astronomy in Gupta era in India, the tremendous development in industrial sector in Europe in modern times are just few examples of the general prosperity brought about by technological advancement. The level of prosperity and material welfare is certainly one of the most important indicators of good and happy life and almost every political establishment has tried to justify itself in the terms of improved happiness and well-being of people.

The technological development is not at all a new phenomenon. However, the rapid technological development has brought about a change in the very nature and structure of technological impact. There is exponential growth in technology. The frontiers of knowledge is extending quickly on a daily basis and the basic question now is even more about the effective human control over technology as it is about the need to further expand technology to meet our needs and solve our problems. It has been rightly pointed out that the temporal length of different period of human development in technological development has been consistently shrinking. The Paleolithic Age was of about lakh years, the Copper and Iron Age was of some thousand years while the contemporary period cannot be defined in reference to any one technology.

The concept of technological singularity refers to the overall expansion of human knowledge in the technological sector at so fast pace that it will tend to explode at some point of time. Technological Singularity is concerned with exponential growth of technological knowledge. It is mainly related with the development and expansion of artificial intelligence. The intelligence is believed to be special human capacity that has enabled to control the nature in a successful way. Artificial Intelligence is related with development of some devices and machines that will function like human beings as far as numerous cognitive functions are concerned. The advanced researches have revealed that learning of simple functions is extremely complex affair and there is need to develop an elaborate code of commands to enable the machine to function in such a way. However, the scientists have developed robots that can substitute human beings in number of daily activities.

1:Corresponding Author

Scanned with CamScanner

Technological Singularity contends that the development of Artificial Intelligence will occur at such a pace that it will surpass human knowledge at some point of time in this century or so. The entire nature of control and regulation of technology will be greatly altered as the machine will have greater intelligence and knowledge than human beings.

The very concept of technological singularity has been treated as a mere tale of science fiction. It has been contended that the factual realms of human cognition is so complex that no machine will be able to replace it in long terms of time. It is true that many tales of science fiction like parallel world, time machine has not seen the light of the day. The opponents have a point that if the concept is not factually sound, there is no point in losing our time for dealing challenges of such society.

It is however submitted that the notion of science fiction is not far from reality in many cases. The development of technology is occurring at such a pace that Singularity might be achieved in the near future. The Singularity Summit has estimated that the year in which Singularity will be achieved as 2040. Another important point is that technological development is occurring at such a fast pace that many resembling features of Singularity society will be definitely attained even if Singularity is not realizable. The Automation will cause large scale replacement of workers within the next 10 years. The challenges to human employment will be multiplied in the case of large scale mechanization and automation. The potential of annihilation of large societies in terms of climate change and warfare will increase, regardless of whether singularity is achieved or not. There is need to develop a vision regarding the challenges of such society. The aim of this paper is to see the potential of constructivism in setting up and altering the basic terms of reference in such society.

In this article, I will use the extended version of the contention of proponents of Technological Singularity. The explosion of technological knowledge is occurring in other fields like Nano-Technology, Bio-Technology, and Space Technology. The impact of such development has led to greater understanding of natural phenomenon and has multiplied our ability to solve great problems in medical, agricultural, horticultural, animal husbandry and geographical fields. There is also great danger of misuse of such technology to suit the selfish, egoistic and sadistic desires of human self. The power of technological knowledge can easily be subverted to destroy the human existence.

Constructivism is an approach in international relations that believes that reality is constructed by the inter-subjective meaning developed by the interaction of different actors and institutions that have their own goals and interests. It is opposed to the realist and liberal approaches which support an objective interpretation of reality. The realists contend that the nature of international relations is basically defined by conflict while the liberal thinkers believe that there is great scope of cooperation in international politics. However, both believe reality to be somewhat imposed on the actors who have no role in shaping and moulding of reality itself. The role of Emotion in decision-making is also sidelined by the realist and liberal thinkers whose contention is that human beings are guided by rational sense. Constructivists are open to the role played by emotions and the various shapes and dimensions that emotion can adopt in the actual conduct of relations.

The relation between Constructivism and Technological Singularity is complex and related to the basic guiding forces of human society and politics. On the superficial level, both may seem to be at great odds with each other. Constructivism is acceptance of human subjectivity while Technological Singularity is celebration of objective domains of knowledge. Constructivism gives lot of space to human volition while Technological Singularity is related to process of ascendancy of machines and devices involving the marginalization of human self. However, a deeper search into the nature and dynamics of both theories reveal that there is great inter-relationship between the two theories. This is because technological singularity raises serious ironical existential question on human intelligence to survive its own gifted ability of invention and innovation. The very supremacy of human cognition is under challenge at the hands of its own object. This will call upon massive introspection about the goals and purposes of life and construction and re-construction of identities and interests to secure long term welfare. The fluidity of identity has increased a lot due to technological advancements and it will further increase as greater permutation and combination of dangers to human race is involved. The rapid pace of technological advancement has reduced the stable experience of time and there seems to be meaningless rush out of control of even the so called achievers. There is great sense of isolation among individuals as everyone is so busy in himself and the intrinsic individuality of every individual is lost in the den of objectively defined variables of performance indicators. The identity and definitional values of an identity have great role in giving a sense of

her

Scanned with CamScanner

meaning and belongingness to an individual. This raises the scope of identity construction, formulation and re-formulation in the era of technological singularity.

There is a great retreat to the era before the dawn of Agricultural Revolution. This is because for the first time after the Agricultural Revolution and the birth of some great civilizations that other great worldly entity beyond human being is created that has the potential to challenge the very human race itself. Constructivism is very important as the great potential "Other" has been generated in the terms of robot and advanced devices. This has caused threats and challenges to the working human relations as there is great chance of unfortunate selection of the path of self-annihilation by the human race. It was Albert Einstein who had said, "Nuclear Technology has changed everything, but the human mind." The Technological Singularity has created a grand opportunity to define and mould the core values of human race in substantial sense as this definition and shaping is no longer merely religious or spiritual, but also political. The very question of optimum demography and dominating population is likely to change to great extent as there is scope of altering the requisite units of human simulacrum at the will of leadership. This will happen under the impact of cloning and creation of highly advanced robots.

The technological advancement has changed the dynamics of politics vis-à-vis religion. Earlier, the lack of understanding of natural phenomenon like earthquake, flood and cyclone caused the human beings to declare it as an act of god implying that it is beyond the control of human race to protect themselves from such natural calamities. The religious leaders often proclaimed that such calamity occurred due to wrath of god as the human society is indulged in number of vices. Now, there is greater control over such phenomenon as there are devices to predict such events and there is elaborate mechanism of disaster management. So, the government is asked question and is put to severe criticism if it fails to undertake suitable steps to deal with the hazardous problem. Thus, the entire analysis of a given natural phenomenon has greatly shifted to the domain of political and administrative fields, besides the focus of scientists to develop tools, machines, devices and techniques that effectively deal with such problems. The Construction was earlier done in terms of human sin and divine punishment and the solution was deemed to lie in practice of some religious mores and religious ceremonies, rites and rituals. Now, the same is constructed in terms of ecological imbalance and unscientific, ecologically unsound practices; and the solution is believed to lie in Governmental efficiency in disaster management and sound eco-friendly practices that has role for government intervention, besides community participation. The case of Ecological imbalance has become very important as the climate change has the potential to greatly damage human lives and properties. Thus, the politically constructed terms are greatly impacted by technological developments.

THE STRONG OTHER AND UNIFIED SELF

It is contended that the strength of concept of self in the common imagination of people is directly related with the strength of other. The other is defined as something which lies outside self and is relevant in forming the concept of self as the self develops and crystallizes itself in opposition to the other. The development of tools and implements in the Paleolithic age led to the gradual victory of human race over the other animals. This led to shift of balance in favour of the human race. The human beings became so powerful that the animal species were no longer able to pose any challenge to their existence. Thus, humanity became so strong that there was no formidable other. This led to process of fragmentation of human race where there was severe struggle among the human groups. The groups have been formed along various axis, the chief being tribe, race, religion, nation, caste etc.

The death as a definite end of life where everything comes to nothing posed great challenge to individual human being. This death became the powerful other, opposed to the vital life. Death has always remained a great mystery to the human race as there is nothing certain after death. Death became great limit for all scientific and empirical endeavors while it also became great source of philosophical enquiries and metaphysical speculations. Death was a spot where the worldly acts, crimes, commissions and omissions were constructed into larger than life image. All the human beings were deemed to be accountable for their acts in the next world. The ultimate erasure of activities with the gradual flow of time was subverted and the significance of worldly acts gained an eternal significance. The entry into heaven and hell was permanent abode of happiness and sorrow for good and bad people respectively. The blind spot after death remains to be one of the most important reasons of deep reverence and fear that religion enjoys in the minds of millions and millions of people.

The tremendous development of technology has created a powerful machine that has made great impact

Scanned with CamScanner

on human life. The very notion of collective life and collective consciousness is under great peril. The very notion of individual self has undergone a great change after the Industrial Revolution. The individual is able to indulge in the technological gadgets so much that he has little need of real face to face interaction with other people. The nature of communication has changed a lot with the entry of virtual space.

The growth of Artificial Intelligence has raised new doubts about the supremacy of human intelligence. This has invited fresh questions regarding the nature, scope and limits of human knowledge. If the robot is able to become a grand substitute of human beings in terms of labour and work, then the very framework of mutual support which provides base to human solidarity will be in question. There will be new questions related to unemployment as great automation will lead to large scale replacement of workers. If the machines are able to provide services at low cost, the emotion-free system of market forces will increasingly use machines, leaving workers at the cruel fate of invisible hand. This asks for the change in constructed notion of consumer, producer, worker and entrepreneur in the Machine era. This is because there is only an individual human being who has been so divided on the basis of his functions. The relevance of such classification will be questioned as the human capacity of production has been greatly substituted by machines.

There will be need to construct an integrated version of human self as opposed to machines. This will cause for fresh appraisal of his emotional capacity, adaptive potential and his strength in social coordination. The entire human history will have to develop new focus laying emphasis on the common threads connecting the entire race and the champions of divisive trends will lose their universal appeal. The massive collection of information tends to prevent a simplified version of history as every grand narrative will be challenged on the basis of several contradictory facts.

CONSTRUCTIVISM AND PLURALISM

Constructivism is an approach that becomes very important when there is scope for multiple interpretations and paths. When there is only one interpretation or solution, then the scope of shaping and moulding it in different ways becomes a guarantee for failure. This normally happens in case of application of mathematical concepts in daily life. The era of technological singularity has opened new vistas of framing human identity in numerous ways. One can stick to the traditional identities or can follow the new affiliations or even mixture of the two. Every great and powerful idea has a great connection to the external reality in which it appeared. The reality extends to social, economic, political and cultural situations of the time. At the same time, it has strong universal appeal. Thus, there are elements in every idea that able to transcend time and space, while there are ingredients that are destined to retire into the oblivion.

The traditional idea has the durability aspect in favour of it. It has great impact on the collective psyche of the people. Further, it becomes a matter of faith for the followers and so the traditional thought becomes immune to severe attack of rationality. The impersonal element in tradition also makes it a great vehicle in carrying forward the values to the new generation.

The modern idea is powerful in the sense that it is more closely connected to the problems of a given age. The idea has also been less corrupted as compared to the traditional idea which often undergoes through process of inclusion of malpractices within it. The modern idea has greater ability of adjustment as there is greater rational critique of it.

The hybrid path seems to be the strongest path in contemporary times. This is because of great multiplication of ideas and greater flow of them due to improved means of communication. The challenges of modern times reduce the potential of one thought to solve all the problems. Almost every theory has some elements which are acceptable even to the opponents.

Constructivism will enable us to critically appreciate the different paths adopted by different theorists. Constructivism is open to the importance of material reality. So, it will make solid effort to understand the complex, multi-dimensional material reality in the era of technological singularity. The scope of artificial intelligence in solving numerous human problems in medical, agricultural, industrial sector besides domestic help will be evaluated. There is need for greater interaction between science and humanities. This will be ensured by following high level norms of scientific journalism which will enable scholars of humanity to understand the actual level of technological development to great extent. The threats and challenges posed by scientific development also needs a critical appraisal. The power of destruction has been multiplied and there is far greater scope of interfering with the ecological equilibrium and altering the DNA and other molecular details to the gross disadvantage of the human race. This is an age of technological explosion. It is impossible for any research scholar of humanities to

Scanned with CamScanner

have complete knowledge about all the major technological breakthroughs. It is however possible that one has working knowledge about the major developments.

The other aspect of Constructivism is related with the ideational aspects of reality. It is this aspect which brings it closer to normative science. The construction of reality is not simple process of imbibing the external knowledge. It is the product of interaction of different players and institutions. The multiplication of institutions has been described by Hedley Bull as **Neo-Medievalism**. The involvement of players has tremendously expanded in the age of technological explosion because the growth of communication devices and internet has provided increased number of platforms for anyone to gain access to knowledge and spread it to other people quickly, conveniently and at low cost. The entire nature of information transaction has become easier in terms of lower cost and time saving.

Each individual has a separate reality structure in his mind. The Reality Structure tends to be unique in case of every individual. This comprises of number of ideas and norms preferences that he develops over a given period of time. This is influenced by his interaction with external reality and his inherent subjectivity and bias. The Reality Structure is dynamic and it tends to change with greater inputs of different type of information and experiences. This has increased the complexity of actual working of institutions as the total number of interaction among several actors has tremendously increased leading to greater expectations and emotional display. The role of constructivism lies in its ability to explain the process by which reality gets proper shape and the numerous set of reality structures get reduced to smaller set of reality structures and each structure is able to attract support of large number of people.

The Chaos is one of the definite results of numerous structures, each pulling and pushing in different directions without any defined motive. Chaos is condition of minimal optimum as any creative idea is likely to be unfulfilled in such conditions. Chaos is often a point where rascal elements have their way as no well developed idea is successful enough in preventing it. This leads to desire of shift from chaos to order. This movement is not new to this age as the works of Plato and Aristotle were also reaction against chaos generated by philosophical ideas of Sophists. The creation of order requires clubbing together of similar reality structure into one set. This reduces the total number of reality structures. The process is not smooth as there are great variations among elements of any given set and also similarities among elements of different sets. There is always great level of adjustment among different sets. The Construction of Reality must occur in such a way that the different mindsets and cognitive structures can exist in a sort of harmony. The cost of discord is much more in a technologically advanced than in a technologically backward society.

CONSTRUCTIVISM AND THE ECONOMIC ASPECT

Constructivism is very important in defining the economic construct. The entire theory of modern economics developed after the Industrial Revolution. They were very important in defining the concept of economic man and the entire discussion was centered on individual desires and propensities that were assumed to be time-space neutral. Some significant changes happened with collapse of classical structure in period of Great Depression ushering in Keynesian Revolution; the emphasis on Planning in Socialist countries; the rise of Development Economics with the independence of large number of countries in Asia and Africa, but the basic concepts have held their ground. The technological singularity has the power to displace the productive potential of every individual. With the loss of productive supremacy, the entire system will be under pressure to provide employment to the people. Productivity is the base on which workers get income and then they consume goods and services. Their saving is channelized into investment. Without productivity, the chain of economic activity will collapse. The principle of moral neutrality and invisible hand will lose appeal in case of utter helplessness of workers. There will be great demand to re-structure the entire chain of resource allocation in such a way that the large numbers of people are able to live normal life. There will be shift to resource distribution as opposed to production and profit maximization under such conditions.

The pressure on environment will cause greater emphasis on the rational consumption of resources in a sustainable manner. The availability of basic resources in abundance will shift the focus from production to consumption. The demographic balance requires to be properly set up in such conditions as the larger per capita consumption coupled with increased population will deteriorate environment in irreversible direction. Thus, the power of Constructivism lies in the establishment of mutually agreed norms and principles that set up key terms which determine the behavior and functioning of

Scanned with CamScanner

entire society. Construction of such term is influenced by the dynamics of socio-economic reality, the role of powerful individual and group and the tacit consent of the society at large. The consent comes only when the society is able to sustain and adapt itself under the opportunities and limits provided by the actual implications of such terms.

The International Relations is greatly shaped by the economic terms and agreements. The entire phenomenon of Imperialism was rooted in the economic exploitation of poor countries that were compelled to sell raw material at low costs and import finished goods at higher prices. The rise of new Artificial Intelligence based devices will cause great upheaval as large number of semi-skilled and unskilled workers will lose their jobs in under-developed countries. The magnitude of problem is likely to be immense and hence the poor worker cannot be left to whims and caprices of the construct of invisible hand. This will require great degree of external assistance and supply of essential goods and services to the entire population by government; otherwise there will be great casualty in the short run. The concept of universal man needs to be strongly constructed into the identity of man free from shackles of economic chain as far as living a simple life with dignity is concerned. The ghost of social Darwinism must be warded off, lest it causes havoc to the innocent aspiration of millions and millions of people.

CONCLUSION

In this paper, I have tried to analyze the relationship between rapid pace of technological development and human perception of external reality. There is an attempt to evaluate the problem from different angles like discourse of self and other; concept and practice of pluralism and economic impact of disruption. There are great challenges posed to the human society by singularity, but there is also hope of resurrecting the strong identity of human self transcending the barriers that have divided humanity throughout history. There is need of greater analysis of technological singularity through the framework of social science approaches, particularly Constructivism, by the social scientists. It will reveal the new challenges posed by rapid technological development and help us to know its impact on social, political and economic structure.

REFERENCES

Chalmers, David J (2010).: Singularity: A Philosophical Analysis; *Journal of Consciousness Studies Volume 17*, Pp. 7-65,

Yudkowsky: *Three Major Singularity Schools* https://intelligence.org/2007/09/30/three-major-singularity-schools/ Accessed on 31-7-2017.

Vinge V.(1993) *The coming technological singularity: How to survive in the post human era*; Whole Earth Review, Winter 1993.

Kurzweil R. (2005): *The singularity is near*; Viking.

Hanson R.: *Prefer laws to values.* http://www.overcomingbias.com/2009/10/prefer-law-to-values.html] Accessed on 31-7-2017.

Zehfuss, Maza (2002): *Constructivism in International Relations: The Politics of Reality*; Cambridge University Press.

Katzenstein, Peter J. (1996): *Culture of National Security;* Columbia University Press.

Goldstone Jack A.: Population and Security: How Demographic change can lead to Violent Conflict; *Journal of International Affairs*, Fall 2002, Vol. 56, No.1, Pp.3-22.

Hauer John: *The funny things happening on the way to singularity.* https://techcrunch.com/2016/04/09/the-funny-things-happening-on-the-way-to-singularity/ Accessed on 31-7-2017.

Vance Ashley: *Mercly Human? That's So Yesterday.* http://www.nytimes.com/2010/06/13/business/13sing.html?pagewanted=all Accessed on 31-7-2017.

Scanned with CamScanner

Journal of Politics & Governance,
Vol. 6 No. 3, September 2017, Pp. 39-46
ISSN: 2278473X (Print) 2456-8023 (Online)
DOI: 10.5958/2456-8023.2017.00016.x

Constructivist Analysis of Postmodernism in the Contemporary Context

Tripuresh Pathak*

Abstract

Postmodernism has been very important development in social sciences. It has critically analyzed the limitations and pitfalls of Modernity, particularly over-emphasis on Rationalism. It is an attack on the epistic claims of superiority inherent in contemporary knowledge system. Constructivism is a mediator between reason and emotion and takes middle way between subjectivity inherent in Postmodernism and objectivity deeply rooted in Enlightenment tradition. The paper aims to analyze the shortfalls in Postmodern theory from Constructivist lens, while appreciating the efforts of Postmodernism in opening new vistas of knowledge in Social Sciences. The analysis has been made in the context of contemporary times when technology is expanding at an exponential scope and there is need for creative engagement between different approaches. This will enable us to properly understand the impact and implication of technological development. The paper aims to understand the political dimensions of technological growth.

Keywords: Postmodernism, Constructivism, Foundationalism, Essentialism, Convergence, Developmental Context

Introduction

Postmodernism is a very important phenomenon that occurred in social sciences in the 20th century. The reason of describing it as such is due to the immense reach of the entire philosophy of Postmodernism. It cannot be restricted to one or two branches of social sciences. It extends to almost all the disciplines of social science, though its impact was most in the fields of philosophy, literary criticism, architecture, history, sociology and political science among other disciplines. Post-Modernism covers approach, methodology, epistemology and ontology, besides other things.

The rise of Postmodernism occurred due to the challenge thrown to the positivism in the 20th century. Earlier, efforts were made to bring social sciences on the same pedestal as science. This led to systematic analysis of events that happened at individual and group. Much focus was concentrated on the quantification of data and this helped in overall comparative analysis and searching the pattern of development over a period of time. The creative engagement with inter-disciplinary approach led to the involvement of different perspectives relevant to the solution of given problem. There was also an effort to convert social science into natural science. These all led to the development of structural-functional approach inspired by biology, communication theory

* **Research Scholar, Department of Political science, University of Allahabad, Allahabad**
E-mail: tripuresh.pathak@gmail.com

Scanned with CamScanner

model and game theory inspired by computational and mathematical development. A sincere effort was made to extricate social science out of normative aspects and instead focus on empirical and value-neutral methods (Johari,1982, Pp.8-13).

These efforts had their limitations. This is because the nature of social science is introspective, social science involves study of human beings themselves as opposed to science that studies objects that extend beyond human life. The great objection faced by scientific models had much to do with marginalization of norms and values in social sciences. This was because the value-neutrality was not possible as values are built in the psyche of the individual, conditioned by the environment in which he has grown up, his ideological predilections and his individual or group experiences. More than that, there was no merit in placing all the ideas and values at one level, without making any rational-cum emotional discrimination among them. The process of new social methodology also led to the emphasis on those aspects of knowledge that could be easily quantified and subject to statistical analysis. This led to little attention being paid on the very important events that could be analyzed only on the qualitative level. There was also critical analysis related to philosophy of science. Kuhn had developed paradigm model regarding scientific development that clearly stated that even scientists worked within the assumptions and framework of given paradigm (Kuhn, 1962, Pp.23-42). Karl Popper demonstrated that science is developed not just by statement that are universally true and non-challengeable, but by statements that are stated in such a way that it can be declared false if contrary propositions are found in regard to it. Science itself underwent great changes and uncertainty theory developed by Hezenberg showed that it is impossible to determine the momentum and position of a given particle. Thus, the charisma of perfection in terms of pure objective knowledge was being removed from the fields of science.

All such factors led to critique of scientific analysis. One way led to an attempt of synthesizing the traditional and modern approach. This led to development of post-behavioural phase. But, the other way was not confined to the discovery of limitations. Instead, it wanted to rediscover the entire knowledge scheme that has proceeded with the advancement of enlightenment and industrial revolution and discover the fallacies in the very outlook towards life. This way led to development of Postmodernism. Needless to say, this approach and philosophy was an attack on the thought-structure that reigned supreme since the dawn of renaissance in the western world. The boost of this approach came from the pain given to the world by the world wars. The massive devastations that occurred during the two world wars compelled the intellectuals to think as to how a good life was possible under these circumstances. Undoubtedly, there was tremendous development in science and technology in the last 300-400 years. The human civilization had progressed in these centuries more than the cumulative development since the birth of civilizations. Still, the very human life was on the path of extinction as was clearly demonstrated by the deployment of nuclear weapons in Japan. So, the comforts of life were being multiplied, but the very subject who was expected to enjoy all these comforts was suffering. There was need of making deep critique of the recent political and social developments.

The development of Postmodernism occurred in 1960s and 1970s. The role of Jacques Derrida, Michael Foucault, Roland Barthes and Julia Kristeva is very important in this regard. Jacques Derrida gave the concept of Deconstruction that emphasized that text can be broken into small units that can be analyzed and degree of contradiction can be established among the units of the same text (Derrida, 1967, Pp.97-125). Foucault gave the concept of Genealogy that implied that there is need of creative analysis regarding the historical development of given aspect of human life like sexuality, clinic, madness etc. He said that discourse is developed that supports the validity of given assumptions and propositions in a given age. The discourse is not objectively correct, but is almost accepted as such due to the interaction between power and knowledge.

Scanned with CamScanner

There has been great impact of globalization on postmodernism. This is because technological changes have shaken the well accepted maxims and notions of knowledge. The rapid flow of information, goods and services has reduced the distance between different cultures. This has led to greater understanding of knowledge of different cultures. This has questioned the relevance of Euro-centric epistemological framework as European angle is found to be unfit to evaluate many values of groups that are geographically and historically away from Europe. There are various traditions in Postmodernism (Lizardo, 2009, Pp.62-69), but there are certain that defines its basic attributes

Postmodernism believes that the goal of objectivity championed by modern era is not worth achieving. They focus on the truth inherent in subjectivities in concepts and practices of different groups. The Constructivists on the other hand believe that there is need of balance between subjectivity and objectivity. The role of objective factors is immense, but there is lot of potential among players and institutions to shape the reality as per its demands and objectives. The construction of reality is an inter-dependent and inter-related phenomenon.

Postmodernism made a great criticism of grand narrative. Postmodernism strongly contended that different ideologies and approaches have made grand narrative by over-emphasizing the importance of one factor. These ideologies and approaches feel that all the problems are due to the imbalances and deficiencies in that given factor. If the given problems related to the factor are solved, then the entire humanity will be able to lead a happy life. There was great narrative constructed around economics in Marxism. Marxism contended that the economic structure is the base structure and all the other relevant philosophical ideology, political structure, legal institutions, military and judiciary are based on the economic structure. The entire problem is due to ownership of resources. There is one class that owns factors of production while there is other class that works on those factors. The owner class exploits the working class. Once the economic inequality perishes, the order of equality is established and there will be happy society based on the equitable enjoyment of material resources.

Similarly, the psychologist Sigmund Freud analysed human society in terms of psychological makeup of different individuals. The over-emphasis on sexuality was a part of his approach called as psycho analytic approach. He described id, ego and super-ego as chief determinants of human life. All these three were described by him to be determined by sexual impulses of individual. The sexual impulses, on being suppressed, generated tensions which was injurious to individual psychology. The release of tensions was meant to imply freedom for the individual. Thus, the entire human welfare was somewhat reduced to sexual dimensions by Freud.

Postmodernism instead focuses on small narratives. These narratives may be popular among some individuals and groups or popular even on large scale. Then, Postmodernism makes an analysis of the narrative in the context of overall historical, social, political, economic circumstances relevant to the narrative. Thus, it aims to give importance to the local discourse and does not allow it to be submerged in the sea of grand narrative. This is sort of giving justice to the people who have developed collective meaning over period of time. This helps us to come close to the lifestyle of different people and develop their understanding after appreciating their context.

Important Features of Constructivism

Constructivism developed as an approach in different disciplines, including education, philosophy and international relations. There were less interlinks between constructivist outlook in different fields as opposed to the Postmodern outlook. In International Relations, Constructivism evolved as great critique of Realist and Liberal outlook. The Realist approach focused on conflict based nature of International Relations while cooperative dimension was emphasized in Liberal approach. Both however argued that Reality is objective. Constructivism argued that Reality is not objective, but is

Scanned with CamScanner

inter-subjective. The reality is developed through common understanding and shared meaning evolved through the interaction among different players and institutions in inter-related and inter-dependent manner. The interaction happens in an objective context. The chief theorists of this approach were Alexander Wendt, Nicholas Onuf, Peter J.Katzenstein, Martha Finnemore, Maja Zehfuss and Samuel Barkins among many others. Maja Zehfuss has covered the major debates within Constructivism (Zehfuss, 2002, Pp.2-23). The aim of this paper is not to go within such debates, but to focus on the commonalities that emerge from the writings of different constructivist scholars so as to make comparison between Constructivism and Post-Modernism.

The Constructivists do not totally discredit the efforts of Postmodernists. The process of construction which is related to development of given values and preferences as part and parcel of given individual or group life is very important in any constructivist analysis. Constructivism appreciates the premise that there can be different ways in which various norms and values develop over a period of time. Constructivism is opposed to the approaches that reduce the ability of actors and institutions to shape and mould reality. The Constructivism, however, believes in the strong presence of objective events and their impact on different actors and institutions. Constructivism gives enough space for objective nature of reality in its analysis. Constructivism also believes that interaction among different players occur due to common understanding and shared meaning among players regarding some norms and values and this is due to the inter-subjective nature of such norms and values. The point of difference is basically related to the acceptance of subjectivity. The critique of Postmodernism is related to the extreme subjectivity involved in the analysis that does not accept any core or foundational objectivity. This creates a lot of flux that is theoretically unbounded in the study of social sciences. This is harmful for the development of the disciplines that come under the banner of social science.

Another major assumption of Postmodernism is related to the lack of test of validity of all small narratives. This implies that all models are equally valid irrespective of their contents, scope and limitations. The aim of constructivism is to find out the role of given narrative in the whole development of relations in a given context. Constructivism aims to criticize the narrative on the basis of its role in furthering the political development in given context. The Postmodern emphasis tends to lead to skepticism regarding truth functions while Constructivism is related to the importance of truth function.

There are similarities in the Ontological outlook of both the approaches. Both the Postmodernism and Constructivism believe in holistic approach, i.e. the reality is greatly affected by the structure of society, economy and polity. The entire relation between power and knowledge, developed by Michael Foucault, was aimed to understand knowledge structure in the light of political values and interests prevailing at a given point of time (Foucault, 1972, Pp.3-20). Constructivism also aims to do justice with the objective conditions and values that are involved in creation and alteration of identities and interests. There is also a great difference in ontology of Postmodernism and Constructivism. The Postmodernism believes in very fluid nature of identities and interests. Fluidity and Stickiness are very opposite concepts. Fluidity can be described as the potential of given identity or value to change over a period of time. Stickiness refers to the inherent tendency of a given idea or value to remain unchanged over a long period of time. This continuation is both, a sort of continuance on its own as well as the resistance it provides to pressure put on it by external circumstances. The Constructivism however believes in the stickiness associated with identities and interests that ensures that a given identity remains constant over a period of time. Constructivism is not immune to the flux induced by the functioning of political system. Its approach is very dynamic and responsive to all changes in the technological, economic, political and legal affairs. Constructivism believes in the relative continuity in the broad features that define common understanding and shared meaning in an analytic framework.

Scanned with CamScanner

Postmodernism has been skeptical to scientific epistemological framework. It is opposed to the positivistic framework. This is because it believes that there is no great final objective that has to be attained by the use of scientific methodology. Constructivism, on the other hand, has tried to use scientific feature and has been more receptive to positivism. However, it must be stated that there is great difference among Constructivists regarding the use of scientific methodology. Some like Alexander Wendt support it while others like Maja Zehfuss are opposed to it. Constructivism believes that the final objective that is supposed to be shared destination of different individuals living in the world is developed not due to idea of one or other state, but to the sharing of that meaning among various actors that are important in international affairs.

Debate in the light of technological development

There is great relevance of debate between these two great approaches in the era of technological development. There is rapid progress in technology in military, information, bio-genetics and nano-technology. The development is occurring at an exponential space. This development called as technological singularity has been discussed by the author in another paper (Pathak, 2017, Pp.43-48). These developments have the potential to uproot traditional social and political structure. The cultural dislocation caused by such changes is immense. There is need to understand the meaning of various cultural values, rites and rituals. There is need for creative engagement with the different cultural attributes.

There is need for developing a strong critique of foundationalism and essentialism. Foundationalism imply that there are certain crucial features that form foundation of a given thought, idea, approach or culture. The removal of those features will cause that given entity to collapse in very little time (Habl, 2011, Pp.2-4). Essentialism implies that some features are soul or constitutive essence of given culture and philosophical features and any modification of those feature will cause change in the culture or philosophical approach. Essentialism tends to develop hierarchy among various features by giving constitutive validity to some of the attributes while denying the same for other attributes. There is no problem as such with Foundationalism or Essentialism as both are relevant in understanding and grasping the reality associated with a given norm, value or idea. Both are relevant in reasonable differentiation between the vital and non-vital features associated with any ideational discourse. Both enable the scholar to develop a strong conceptual framework for his study and concentrate on fewer aspects that have high significance level rather than wasting his energy on the variety of aspects that have very poor significance for his field of study.

The strong rejection of foundationalism and essentialism was probably a weakness that worked as a roadblock in the theoretical development of Post-Modernist approach. This is because it prevented Post Modernism to utilize the few assumptions and propositions to develop a strong theoretical alternative model. The focus should be more on constructivist vision of middle way. There is need to utilize the conceptual framework that is guaranteed by the focus on foundational features as there is need to concentrate on few important attributes and understand their inter-relationships and inter-dependence. There is effectively a need to counter-develop an analysis that lays emphasis on heterogeneous nature of reality inherent in the dynamic functioning of various concepts and principles as opposed to the homogenous nature implied in various grand narratives. The relevance of various factors has to be understood with fine knowledge of dynamics that result in increase and reduction in importance of various factors. Thus, an attribute may be defining essence of an identity at a given point of time, but it may cease to be so at some other time. Similarly, an attribute with very less significance in definition of essence of identity may become the chief defining feature at some other point of time.

Foundationalism has to be properly used in this age when there is great change brought in the nature and implications of concept. The entire quality of mode of expression has undergone a

Scanned with CamScanner

tectonic shift. So, there is difficulty in holding on the foundational features of given ideational entity. It is even more difficult for masses, including even the intelligent sections of society, to adjust with the change in foundational features. The proper understanding of foundational features will improve comparative analysis at cross-regional as well time –longitudinal frame. The shift in foundation has to be quickly gazed and solution must be provided if the foundational change has deleterious consequences. There is need to develop common understanding and share some common concerns as the reality of human existence seeking a better life is as much a reality in the contemporary order as the interest of groups made on the projection of egoistic psychological aspects of humanity developed over the course of history. There is need to develop a consensus to direct the use of technological developments for the welfare of human beings and oppose the possible misuses as much as possible.

The Constructivist analysis related to Anarchy developed by Alexander Wendt is very handy at this point. In his article, *'Anarchy is what the states make of it'*, he has clearly described that nature of anarchy practiced in the international system is due to the inter-subjective meaning developed through the interaction and inter-dependence of different actors in the International System (Wendt, 1993, Pp.403-407). This was further developed by him in his work *'Social Theory of International Politics'*. He has described three types of anarchy: Hobbesian, Lockean and Kantian type. The Kantian type is based on cooperation based on selfless terms while Lockean one is practiced in order to advance the self-interests of different states. The Hobbesian type of anarchy is based on conflict and a state of war of everyone with everyone else. Even the Hobbesian one involves the rational calculation of self-interests. But, rationality implies recklessness in causing harm to all the other players as there is craving for power in Hobbesian nature of international relations (Wendt, 1999, Pp.246-312). The technological development has modified the construct of self-interests for almost all the players as they are on the verge of self-destruction if the tendency to annihilate the enemy or the other is not curtailed. There is need to even surrender some of their powers to an international organization which will use its autonomy in the evolution of certain norms and principles that are in the benefit of all the parties. A great degree of self-autonomy will prevent the organization from being disturbed by the member states in the day to day functioning. It will also improve the capability of experts working in an organization to chart out effective policy with proper amendments over a period of time.

There is need to develop a framework in which the *convergences* around the impact of technology in different states can be easily searched and stated. This will lead to greater agreement about the consequences of rapid technological development and result in better coordination in strategy to properly deal with the consequences of technological development. Postmodernism can benefit the human society a lot because of its genuine respect for different perspectives and shades of opinion. But, there is equal need of creative engagement with objective events and processes as emphasized by Constructivism. This is because the different perspectives have to be critically analyzed in the light of data regarding the relevant development in different fields. There is need to redefine, modify and alter the discourse of a given perspective as per the changing requirement of different sections of society with change in mode and type of technology.

There is need to develop greater dialogue between the different perspectives. But, this cannot be achieved on the premise of equal validity of all perspectives. This is because many perspectives are highly exclusivist and lack tolerance towards other viewpoints. This will only lead to greater conflict among the holders of different values as the tolerant perspective will be attacked for no genuine reason. So, there is need to figure out the viewpoints that are opposed to the norms of deliberation, equality and mutual respect. The exclusivist aspects of such viewpoints must be attacked because such exclusivism has not much to offer in terms of better relation, understanding and cooperation among different countries of the world. There is need to arrive at a consensus regarding the

Scanned with CamScanner

legitimacy of deployment of violence for fulfillment of given objective. These consensus making is not new and it has been tried through earlier times. The context of contemporary time is lot different from earlier times. This is because the potential of damage through military technology is much more as compared to the past. This makes preventing the harmful use of weapons of mass destruction a compulsion in contemporary times. The potential of political blackmailing has increased a lot in modern times. This is because even a small state may threaten the use of dangerous weapons and blackmail major powers to win a truce. This may be in the national interests of small state in some cases, but it is mostly against the requirements of global peace.

Constructivism has tried to use the concept of speech act in the field of international relations. Nicholas Onuf was the one who talked about using this concept in his book, World of our Making. Onuf has tried to use the speech acts that were developed by J.L. Austin in the form of locutionary, illocutionary and perlocutionary types of acts and also the theory developed by John Searle (Onuf, 1982, pp.78-95). Searle has described five type of speech acts: assertive, directive, permissive, commissive and declaratory type of acts. The analysis of Austin and Searle may be topic of detailed critique in a separate research paper. The important point to note is their relevance regarding the command structure, requirement of permission and directive powers inherent in a language. The existence of these different types of speech acts does not exist in a vacuum, but in a given context of power structure that in turned is determined by social, political and economic structures. These can be used in international affairs as there is close coordination between relative and absolute coordinates of power, ideology of different states and context in which international affairs exist. Speech Act helps us to understand the gestures and styles of relevant actors. This can be critically debated to improve the efficiency in public conduct of actors that can be further used to increase the convergences and reduce the divergences in relevant points among the states.

Conclusion

This paper makes an effort to evaluate the nature of approaches of Post-Modernism and Constructivism in contemporary times. It aims to delineate the lines of similarity and point of differences in the outlook of both approaches. The subjectivist nature of Post-Modernism, giving lot of power to actors to shape and change the apparent reality, has been compared with Constructivist Approach. Constructivism is also a great critique of objective reality. It, however, puts a greater cap on the capacity of a given player to alter the reality as per the requirements of its own individual or group interests. Constructivism lays emphasis on the common meaning developed through inter-relation and inter-dependence among the actors. The paper does not aim to focus only on the theoretical rigors of both of these approaches. The paper aims to understand the practical consequences of the debate between these approaches. This has been done in the light of rapid technological developments. The exponential pace of technological development has altered the time period in which changes occur. This calls for a need to devolve some power to the international institutions that must operate to efficiently solve a given problem that is optimum best for the world. The retention of all powers by state may curtail the speed at which appropriate decisions have to be taken in the field related to mores regarding use of technology. There is need to benefit by the respect afforded to different perspectives as that will bridge the gap among different states and help the world to benefit from the knowledge of various cultures. The effective use of speech act will also help in the development of consensus.

References

Derrida, Jacques, (1967). Of Grammatology. Translated from French by Gayatri Chakravorty Spivak, 1997. Baltimore: John Hopkins University Press.

Foucault, Michael (1972). Archaeology of Knowledge. New York: Pantheon Books.

Scanned with CamScanner

Habl, Jan. (2011). Problems of Epistemological Problems. Paeidia: Philosophical E-Journal of Charles University. 04 (08), Pp.1-14. http://paideia.pedf.cuni.cz/download/habl_foundationalism.pdf Accessed on 23-11-2017.

Johari, J.C. (1982). Comparative Politics. New Delhi: Sterling Publishers Private Limited.

Kuhn, Thomas Kuhn. 1970. The Structure of Scientific Revolutions. Chicago: The University of Chicago Press.

Lizardo, Omar & Strand, Michael. (2009). Postmodernism and Globalization. Protosociology: An International Journal of Interdisciplinary Research, 26, Pp.38-72.

Onuf, Nicholas. (1989). World of Our Making. Columbia: University of South Carolina Press.

Pathak, Tripuresh. (2017). Constructivism in the era of technological singularity. Indian Journal of Society and Politics,04 (03), Pp.43-48.

Wendt, Alexander. (1993). Anarchy is what states make of it: The Social Construction of Power Politics. International Organization, 46 (2), (Spring,1992), Pp.391-425.

Wendt, Alexander. (1999). Social Theory of International Politics. Cambridge: Cambridge University Press.

Zehfuss, Maja. (2002). Constructivism in International Relations: The Politics of Reality. Cambridge: Cambridge University Press.

Scanned with CamScanner

Indian J. Soc.& Pol. 03(01): 2016: 21-26

ISSN 2348-0084(P)
ISSN 2455-2127(O)

CHANGING DYNAMICS OF INTERNATIONAL LAW IN POST COLD WAR ERA

TRIPURESH PATHAK[1]

[1]Research Scholar, Department of Political Science, University of Allahabad.(U.P.) INDIA

ABSTRACT

The aim of this paper is to evaluate new challenges to development of International Law in Post-Cold War period. It is contended that some great opportunities have been opened for rapid progress of International Law due to Global interdependence in economic, technological sectors and global impact of Environmental Pollution. The paper will discuss theoretical implications of crystallization of amorphous contents of International Law in the light of Realist, Liberal and Constructivist Theory. The paper will also challenge the extremity regarding existence of sovereignty in International Relations. It is stated that more focus need to be on divergences and convergences in interests of individual states and humanity in light of threat of technological destruction and environmental pressure. The paper will focus on the impact of hegemonic actor on functioning of International Law. The dynamics of Nuclear Proliferation and its role in distribution of power among major players will also be briefly discussed. The large scale damage to life and property in form of civil wars and genocides will be briefly evaluated to understand if there is any progress in sanctity attached to each and every human life in real conduct of international relations.

KEYWORDS: *Crystallization of International Law, Relative Universality of Law, Amorphous nature of International Law, Hegemonic Dictation of Policy, Limits of Sovereignty, Technological Exploitation of Law, Natural Law, Constructivism, Ecological Critique of International Law, Non-State Actors.*

The discipline of International Law has seen massive development in the 20th century. Once it was merely treated as "Vanishing point of Jurisprudence" by none other than great jurist Holland and was treated as non-existent or merely insignificant in the entire discourse of Analytical Jurisprudence. It was Oppenheim who first gave serious and comprehensive treatment to the discipline in the 20th century dealing with major developments that happened in the nineteenth century although legendary juristsHugo Grotius, Emer de Vattel, DionisioAnzilotti are credited for developing the field in the initial stages. Oppenheim defined International Law as "name for the body of customary and conventional rules which are considered legally binding by civilized States in their intercourse with each other".

The two great World Wars of the twentieth century resulting in large scale destruction of human lives and property compelled the nations to set up an organization that could better regulate the conduct of nations. Reduction of Anarchy in International Relations was no longer an empty and meaningless metaphor. It was question of Great Choice between possible annihilation and existence immortalized by dark and miserable future predicted by great scientist Albert Einstein, "I do not know what weapons will be used in the Third World War, but I am sure that the Fourth World War will be fought with bows and arrows." This led to development of United Nations and acceptance of Universal Declaration of Human Rights by major countries.

The twentieth century witnessed unprecedented growth of regionalism which can be understood by the concept of "functional integration" developed by David Mitrany. The increase in cooperation in some core sector led to development of close, interconnected and interdependent regional market. The regional economic unit induced closer political ties and enabled development of "security community" to use term used by Karl Deutsch. E.U., ASEAN and NAFTA are some great developments in the regionalization of International Politics. This has reduced Anarchy in the conduct of international players and increased the mutual trust among them. The need to standardize and systemize the norms related to the conduct of international relations has led to the codification of customs and development of new mutually accepted principles, rules and regulations. International Law has greatly advanced due to this phenomenon.

The technological advancement combined with collapse of Soviet Union led to increased globalization

1: Corresponding Author

Scanned with CamScanner

and liberalization. This has increased interdependence of global economies on each other. This has also caused increased crystallization of behavior of different states in form of conventions and treaties. The long term interest of state demands them to follow such rules as far as possible and avoid application of self-desire inspired capricious decision in every cases.

Environmental Pollution has emerged as Global problem in recent times. The harm it is feared to cause in form of flood, drought, reduced fertility of soil, air borne diseases, ozone layer depletion makes it certain that nature respects no man defined sovereignty. This has induced states to come together and discuss the nature and magnitude of the problem and come with a universally acceptable solution. This has led to numerous conferences related to ecological disturbances and enabled development of International Law in this field.

There is considerable suspicion regarding the Universality in application of International Law among different scholars of International Relations. The scholars of Realist School of thought still contend that real power interest rules the roost and international law is merely a cloak for pursuing policies related to National Interest of every player. With emergence of United States as a great hegemonic power after demise of U.S.S.R., it is contended that U.S. foreign policy is above the dictates of International Law. The U.S. invasion of Iraq in 2003 amidst lack of any evidence in U.N. Report and dissent of states of Security Council is an example in this regard.

Scope of International Law

As it has been stated that International Law is not regarded as supreme law by all the thinkers. The Realists and Liberals vary regarding the basic pattern of International Politics. The Realists find International Relations as conflict based while Liberals are prone to find great scope for cooperation in international affairs. Thus, Liberals support great extent of institutionalization of international relations in the form of developed international law while Realists refuse to attach much importance to International Law as they insist that relative gain inhibits institutionalization. The Constructivists contend that International Relations is not as objective as contended by Realists and Liberals, but it is inter-subjective. They say that reality is shaped and moulded by interaction between different players. The different players are both inter-related and inter-dependent on each other. There is no doubt regarding the material objective condition of international affairs but the actors are no longer treated as prisoners of objective necessities. They are believed to be powerful enough to develop their own perspective of overall reality as per their cognitive structure and self-interests. The Post-Modern discourse tends to make Reality highly fluid and unstable giving each player great amount of independence to define Narrative of any given Text in their own way. It is thus charged with lack of objectivity and improper understanding of process enabling the mutually shared meaning among the players. The Constructive discourse is credited with adopting the middle way between Objectivity and Subjectivity and thus avoiding the extremes between objective approach of Realism and Liberalism on one hand and Post-Modern Discourse on the other.

The Constructive approach helps us to understand the opportunities and challenges before International Law. If different players are able to come close together and agree upon the common problems and need to develop a mutually acceptable solution, there is great scope for development of International Law. This happened in Europe after Second World War when different countries agreed in true sense to avoid the forces which could create another War like situation in Europe and rather concentrate on combating against expansion of Communism. This led to development of European Economic Community and further took form of European Union. There was such development in South East Asia and North America as well where ASEAN and NAFTA grew into a strong Regional Organization.

The limits in development of International Law arises when states are unable to attain domestic stability as in case of Middle East and African countries or they are unable to come out of the shadow of any contentious issue like Kashmir Problem in case of India and Pakistan. Lack of Consensus can result in formation of domestic law particularly in Non-Democratic regimes, but it cannot cause law formulation and Obligation at International level because there is no Sovereign above the States. International Law becomes very weak and the force of "PactaSuntServanda" (Agreements must be kept) loses its significance. There is continuous breach of International Guidelines and humanitarian norms are sidelined.

International Law requires that nations are able to submit their faith on each other and able to develop a long term convergence of interests. It cannot develop from a vacuum. There is need of great economic understanding, a sense of social community, relevance of cultural diversity enriching mankind, rational vision to avoid the

Scanned with CamScanner

unprecedented escalated violence in case of heightened tension due to great strides in military technology in the past hundred years or so. There is need to break the [illegible] of powerful lobbyists who have everything to gain and nothing to lose from increased level of tension resulting in arms race and unstable conditions allowing them to intervene for their selfish interests.

Power Imbalance in Post-Cold War Period

The end of Cold War resulted in rise of United States as sole hegemon or far more strong power than other great powers. This caused Skew in balance of power in international affairs to such an extent that U.S. was able to dictate the terms and conditions to many poor countries which had to accept them in terms of Structural Adjustment Programs. The sovereign decision making power of many countries existed only in name as they were compelled by economic and political reasons to accept the harsh conditions of market economy. The entire logic of collective security was brushed aside by U.S. in case of Iraq War in which case U.S. supported its attack on basis of Unilateral Strike.

International law like all other modern laws demands that all should be bound by its rules and regulations. If it allows exceptions to powerful sates, it lose its command not just in their case but also in eyes of all countries which try to rely more on their own military capability and alliance type formation rather than mere nominal force of International Law.

International Law recognizes equal sovereignty of all states. However, great power imbalance between states allows major power to intervene in domestic affair of individual weak state in name of democracy and human rights. The application of intervention is highly selective depending upon the selfish interests of great power and this practice often compels weaker states to accommodate the demands of powerful conditions as far as possible sacrificing the genuine interests of its citizens.

This trend has reduced accountability to law and caused powerful vested interests to use the high sounding principles as a cloak to further their own causes. This has caused disturbance in many regions resulting in large scale death, destruction of property and displacement. International Law has been reduced to mute spectator in many such cases.

Crystallization of International Law in Post-Cold War period

International Law in traditional sense was mainly based on customs. The accepted practices observed by states in their interaction with other states became part of international law. Custom can serve as great source of law in case of static world order. But when World order has become dynamic and informed by great changes in small period of time, problems arises at much faster pace than development of standardized conduct among states. In such cases, only Legislation can fill necessary gaps.

The twentieth century was marvelous in terms of ratification of charters and conventions by most of the states of the world. This becomes more spectacular if we take large number of newly independent states into account. The new states ensured that they will play positive role in development of new principles of International Law. Increased number of actors often feared to increase dissent often acted in direction of greater consent and agreement regarding terms of International Law.

The domestic laws have seen dominance of vested interests in form of lobbying. The International Law by its very existence in anarchical structure witnesses considerable conflict of interests of different states. The Nuclear Proliferation Treaty, for example,is discriminatory in its very clauses where it differentiates between Nuclear Weapon States and Non-Nuclear Weapon States. The nature of International Law thus continues to exist in its amorphous form. It fails to develop into proper set of rules and regulations which becomes obligatory for all the states. The rules become tool for promotion of national interests. They are observed and broken as per the whims and caprices of individual states.

International Law can crystallize into well developed set of rules only if they are consistently followed in reciprocal terms. Lack of reciprocity breeds pure rational decision making guided by selfish, short-termed egoistic interests. It generates a sort of Prisoner Dilemma where Decision makers are compelled to accept a non-optimal solution due to lack of certainty of effective cooperation from the other side.

The amorphous nature of international law is not neutral phenomenon. The amorphous nature enables powerful interest to misuse their power as there is no legal provision which can cause universal condemnation of their improper harmful acts. For instance, lack of fixed

Scanned with CamScanner

deadline for complete disarmament keeps states trying to develop more and more weapons and this allows nuclear arms' lobby to generate huge profits.

The amorphous nature is linked with differing justifications of intervention which enables the selective enterprises like arms' company, natural resource based firm, construction firms to make huge profits. This can be connected with great intervention of external powers in Middle East in recent years and also support of some dictatorial regimes in Latin America in the past as they secured material gains for such powerful lobbies.

International Law dominated by Discourse of Natural Law

The natural law supported the proposition that there were some principles inherent in nature itself (particularly human nature) that have to be given shape of law. These principles have to be universally followed by all the societies.

The International Law discourse is heavily dominated by natural laws in the sense that some values are deemed to be compulsory for all states. These values are not allowed to be affected by particular cultural and social demands of any given region. This is positive development to the extent that it puts pressure on even ruthless dictators to respect the sanctity of human life and avoid the inhuman acts against weaker sections to great extent.

The Natural Law discourse is vague, so its influence on International Law causes the latter to become uncertain and easily malleable to interest of powerful countries. Democracy is defined as per the demands of self-interests of the powerful to support or oppose a given regime. The Human Rights discourse is also used to settle scores against a state as violation of human rights is more certain and universal than any of its definition. The violation can be easily exaggerated to declare the given regime illegitimate.

The Natural Law theory is universal and fails to account for particular greatness and limitations of any given region. The acceptability of given political model or given political values must suit the genius of people before it can be successfully followed in practice in any particular state. Lack of familiarity and taste for any such development can only cause regression and instability in the region.

Ecological Dimensions of Contemporary International Law

The contemporary International Law is surrounded by great challenge to develop a commonly accepted goal of ecological conservation and sustainable development. There has to be fixed target which must be followed by all the states. The International Law has to ensure wise utilization of natural resources which can both conserve environment and ensure development of poor countries which can remove poverty and enable people to be supplied with basic essentialities of life like food, cloth and shelter.

The international Law remains stunted because of disagreement between industrialized North Block and less developed South Block. The latter block wants Common but Differentiated Responsibility as it does not want to forego its opportunity of development and contends that it is neither responsible for pollution in past two hundred years nor has it benefitted in any way by such environmental exploitation in these years.

The contemporary state centric Westphalian system of International Relations fails to give critical decision taking powers to International Organizations concerned with environmental problems. They contend that they have better expertise in this field and hence can take better decisions. It is submitted that these players should not enjoy critical powers in any case as they can be easily used by Developed States to advance their own selfish interests and prevent people of poor from fulfilling their just aspirations.

Dilemma of Sovereignty

The existence of Sovereignty is one of the most perplexing problems of Politics. The Treaty of Westphalia provided that states are sovereign powers. The large scale massacre caused by states like Hitler's Nazi regime and Ottoman Emperor in Armenia caused states to evolve international principles regarding humanitarian rights. Thus people were given stake against the state as far as protection of some fundamental rights concerning existence are concerned. Thus dilemma as to ultimate supremacy of state or its citizens developed.

There is attempt to balance state's sovereignty and people' rights in United Nations Charter and different Conventions passed by United Nations. It provides for equal sovereignty of all states and non-intervention in domestic affairs of each state. The Human Rights Charter provides for basic rights of individuals and Convention on

Scanned with CamScanner

the Prevention and Punishment of Crime of Genocide compels state to respect life and existence of every group.

The divergent forces of individual rights and state's domestic supremacy has generated major debate between Right to Protect and Principle of Non-intervention. There is lack of well-defined Charter or Convention based legislative texts and Judicial Precedents that can provide for solution in any given case. There does not exist any formula which can state the critical level to which violation of rights can be tolerated. If the limit is very small, then there can be intervention in any case as some form of rights' violation is inevitable. If the limit is too much, then there is fear of large scale massacre of people in unstable, volatile states.

This problem of indetermination of proper balance had caused justification of Taliban forces in 1980's as far as it suited the U.S. interests as all its violations of rights could be termed as normal deviations.The U.S. could however remove Saddam Hussain from power even though his regime had no Weapon of Mass Destruction on pretention of alleged cases of human violations. The real interest however lay in Petro-Dollar Economics. Similarly, the anti-Gaddaffi forces were supported by French and U.S. forces although any case of Human Rights' violation was not new for his long termed regime from 1969 to 2011.

The dilemma of sovereignty coupled with ill-fated interventions cause large scale death of people and great displacements and damage to entire area. The current refugee crisis in Europe can be traced to this irrational, hasty, myopic solution of this great dilemma.

Impact of New Technology on International Law

This is era of great technological advancement. The Information revolution has ensured rapid flow of information greatly reducing time-space factor, while Revolution in Military Affairs has enabled technologically advanced states to start and finish war with minimum war casualties on their side. The rapid growth in Bio-Technology and Nano-Technology will further widen the gap between states in technological aspect.

The technological aspect is double edged sword as far as evolution of International Law is concerned. The greater communication can reduce the misunderstanding and increase a type of consensus among common people of different countries regarding basic humanitarian principles of International Law. The latest example is the great positive public support for Syrian refugees in Europe after photograph of dead child on the shore was widely circulated through social networking sites. The greater reach of technology has potential to demystify the political conduct of major actors causing them to change their traditional duplicity. The Emancipatory role of technology in its capacity to demystify reality was stated by great thinker of Frankfurt School, Benjamin Franklin.

The technological revolution has increased the grip of powerful countries. The great development in oil exploration technology has encouraged U.S. to meddle more in Gulf Region in the past. Revolution in Military Affairs has reduced the cost of war, at least in perception of military strategists. The Snowden affair has clearly showed that right to privacy and special rights and privileges of Head of States and Diplomats are greatly violated by Central Intelligence Agency. The entire International Politics can be easily controlled by Great Powers which was not possible in earlier centuries. The norms of International Law cannot become universally applicable if few powerful interests can violate any terms and conditions as per their sweet will. The threat of nuclear escalation is another side of technological development. The need to avoid nuclear proliferation in hands of irrational, non-state actors at all cost is major challenge in age of highly advanced information technology. The legality of trade of civilian nuclear technology under I.A.E.A and N.S.G. guidelines is also vulnerable as civilian technology can be easily advanced to develop nuclear weapons. The safeguard and supervision provisions can also be misuded to violate internal sovereignty of a state. The International Law, though considerably developed in this regard, must address all these problems in non-discriminatory framework informed with spirit of equal treatment of all states.

CONCLUSION

The paper seeks to locate new developments in international law in post-cold war period. It focuses on hegemonic status of United States, rapid technological advancements, Nuclear Proliferation and ecological problems. It attempts to use concept of crystallization of amorphous contents of law, theory of natural law and the great conflicting position over sovereignty to do justice with changing dynamics.

The end of an era is marked by polarized opinion by opposing camps. The Soviet supporters tended to see it as beginning of age of "American Hegemony"while U.S.

Scanned with CamScanner

inclined thinkers called it as end of history (Francis Fukuyama) and final and complete victory of liberal democratic system. The true glory of International Law can happen only when there is greater balance of power and no single power is able to dictate policy to other states. The Washington Consensus and Structural Adjustment Programs show lack of concern for basic demands of people of developing countries.

International Law has seen rise in influence of Non-State Actors like Multi-National Corporations who are able to influence policy of weak and poor states as per their aim of maximum profit generation. The Environmental organizations are doing some positive work as they are trying their best to inform people regarding environmental degradation and deleterious effects of Climate Change.

The dominance of International Politics by staunch Realists wearing the masks of hypocritical Liberals has caused the dismemberment of many states which is accompanied with rise of powerful, ideologically driven violent groups and organizations which are committing murder arson and rape on large scale. These groups advocate utopia based on extermination of great majority of "other" where their perceived system will rule the roost. The International Law has failed to protect the life and property of people in such violent regions where ineffective control of state authority has generated government versus anti-government struggle and inter-group wars on large scale.

The proper development of International Law not just in volume and content, but in terms of greater moral legitimation and effective implementation requires cooperation between different states and reduction in power and dominance of powerful vested interests who tend to influence policy making at all levels from behind the curtain. This century of great technological advancement requires human beings to dispel darkness of earlier centuries to attain peaceful international order,otherwise it will be also be "century of great misery".

REFERENCE

Clapham, Andrew (2012): *Brierly's Law of Nations: An Introduction to the Role of International Law in International Relations*, Seventh Edition, Oxford University Press.

Deplano, Rossano(2015): *The Strategic use of International Law by the United Nation Security Council: An Empirical Study* (Springer).

Held, David: The Changing Structure Of International Law: Sovereignty Transformed (https://www.polity.co.uk/global/pdf/GTReader2eHeld.pdf)

Jennings, Robert & Watts, Arthur KCMGQC(Editor): *Oppenheim's International Law:* Vol I Peace Ninth Edition, Oxford University Press.

Johnson, Stanley: UNEP The first 40 Years: A Narrative 2012 (https://www.unep.org/pdf/40thbook.pdf)

Kapoor, S. K. (2009): *International Law And Human Rights* ,17th Edition, Central Law Agency.

Mozley, Robert F. (1998): *The Politics And Technology of Nuclear Proliferation*, University OF Washington Press.

Shaw, M. N. (2008) : *International Law*, 6th Edition. Cambridge University Press.

Shearer, I. A. (2007): *Starke's International Law*, 11th Edition, Oxford University Press.

Waltz, Kenneth N. (2001): *Man, The State and War: A Theoretical Analysis*, Columbia University Press.

Zehfuss, Maja (2002): *Constructivism in International Relations: The Politics Of Reality*, 1st Edition, Cambridge University Press.

United Nations Security Council Resolution 1441 (2002). (https://www.un.org/Depts/unmovic/documents/1441.pdf).

Scanned with CamScanner